विवेक
ज्योति
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)
हिन्दी त्रैमासिक
वर्ष : २४ अंक १
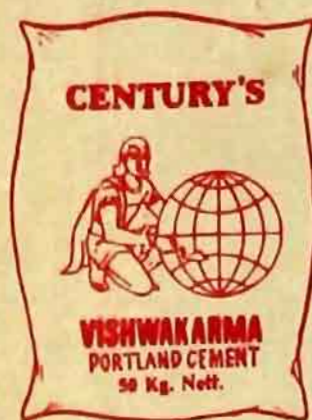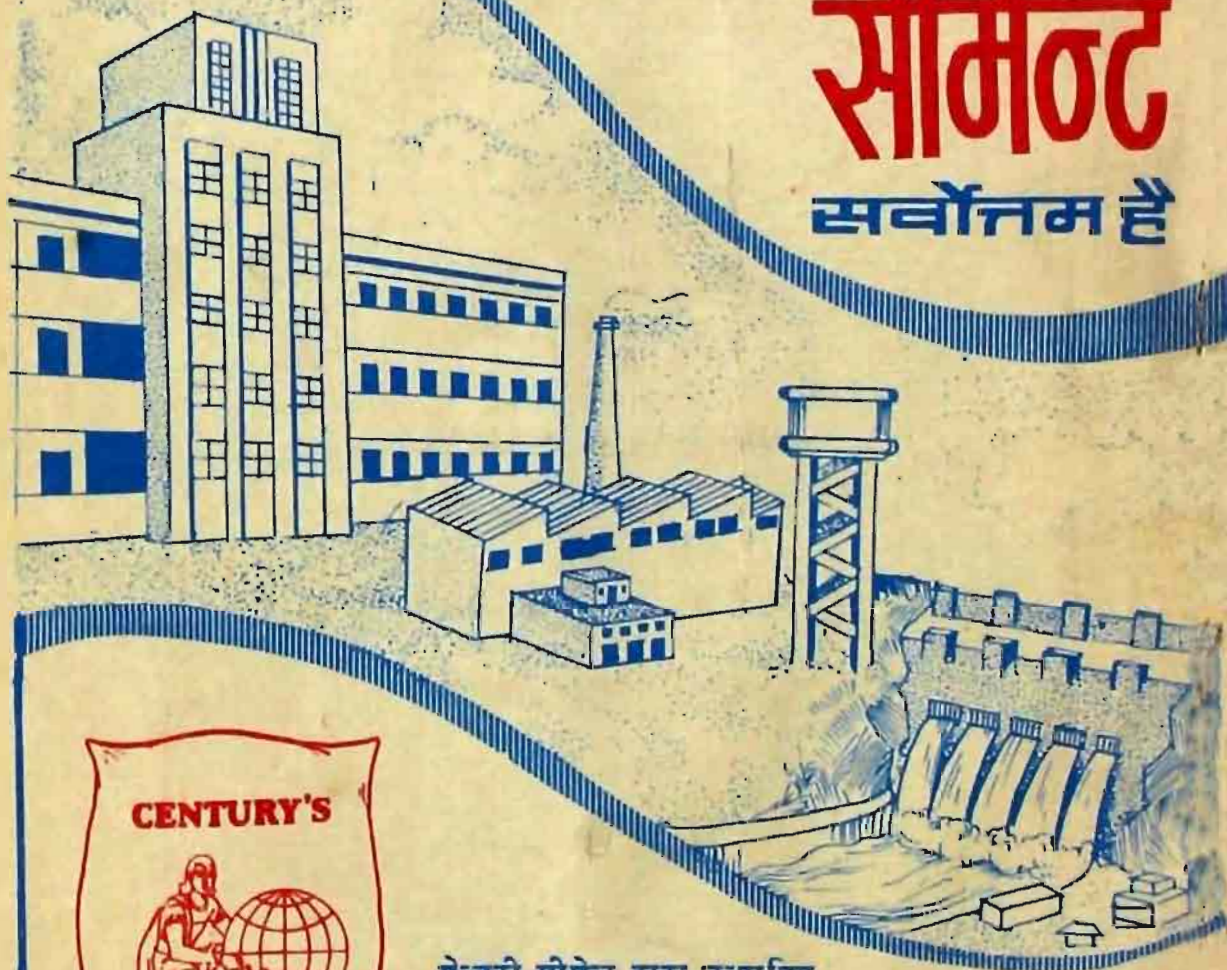
# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी–फरवरी–मार्च

* १९८६ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

**स्वामी आत्मानन्द**

व्यवस्थापक

**स्वामी श्रीकरानन्द**

वार्षिक ८)
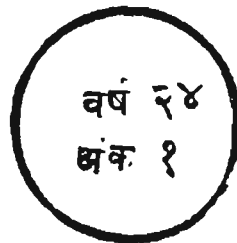
एक प्रति २।।)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

**रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम**

रायपुर–४९२००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

# अनुक्रमणिका



---

कवर-चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

---

मुद्रणस्थल : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २४ ] जनवरी-फरवरी-मार्च ★ १९८६ ★ [ अंक १

## सावधान !

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ।।

—हमने विषयों को नहीं भोगा, किन्तु विषयों ने हमें भोग लिया। हमने तप को नहीं तपा, किन्तु तप ने हमें तपा डाला ! काल तो खत्म हुआ नहीं, हमारा ही खात्मा हो गया ! तृष्णा तो बूढ़ी हुई नहीं, हमीं बूढ़े हो गये !

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्', १२

# अग्नि-मंत्र

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

१२ दिसम्बर, १८९९

प्रिय श्रीमती बुल,

आपने ठीक ही समझा है—मैं निष्ठुर हूँ, वास्तव में बहुत निष्ठुर हूं। किन्तु मुझमें जो कोमलता आदि है, वह मेरी दुर्बलता है। काश! यह दुर्बलता मुझमें कम होती, बहुत कम होती! हाय! यही है मेरी दुर्बलता तथा यही है मेरे सभी दुःखों का कारण। अच्छा, नगरपालिका हम लोगों से कर वसूल करना चाहती है—ठीक है; वह मेरी गलती है कि मैंने 'मठ' को एक न्यास-प्रलेख (deed of trust) द्वारा जनता की सम्पत्ति नहीं बनाया। अपने वत्सों के प्रति मैं कटु भाषा का प्रयोग करता हूँ, इसके लिए मैं दुःखित हूँ; किन्तु वे लोग भी यह अच्छी तरह जानते हैं कि संसार में और किसी की अपेक्षा मैं ही उन्हें अधिक प्यार करता हूँ।

यह सच है कि मुझे दैवी सहायता मिली है! किन्तु ओह! उस दैवी सहायता के एक-एक कण के लिए मुझे अपना एक-एक सेर खून देना पड़ा है। उसके बिना शायद मैं अधिक सुखी होता और अच्छा मनुष्य हुआ होता। वर्तमान परिस्थिति बहुत ही अन्धकारमय प्रतीत होती है; किन्तु मैं योद्धा हूं, युद्ध करते करते मैं मरूँगा, हार नहीं मानूँगा, इसी कारण तो बच्चों पर मैं नाराज हो जाता हूँ। मैं तो उन्हें युद्ध करने के लिए नहीं बुला रहा हूँ—मैं तो सिर्फ यह चाहता हूँ कि वे

लोग मेरे युद्ध में बाधा न खड़ी करें।

अपने भाग्य के प्रति मुझे कोई भी द्वेष नहीं है। किन्तु हाय! मैं चाहता हूँ कि कोई व्यक्ति, मेरे बच्चों में से एक भी मेरे साथ रहकर सभी प्रतिकूल अवस्थाओं में संग्राम करता रहे।

आप किसी प्रकार की दुश्चिन्ता न करें; भारतवर्ष में किसी भी कार्य के लिए मेरी उपस्थिति आवश्यक है। पहले की अपेक्षा मेरा स्वास्थ्य अब काफी अच्छा है; शायद समुद्र-यात्रा से और भी अच्छा हो जाय। खैर, इस समय अमेरिका में पुराने मित्रों से मिलने के सिवाय और कुछ काम मैंने नहीं किया। मेरी यात्रा का खर्च 'जो' के पास से मिल जायगा, इसके अतिरिक्त श्री लेगेट के पास मेरे कुछ पैसे हैं। भारत में कुछ दान मिलने की मुझे आशा है। भारत के विभिन्न प्रान्तों के अपने मित्रों में से किसी से भी मैं नहीं मिल पाया। मुझे आशा है कि पन्द्रह हजार रुपये एकत्र हो जायँगे, जिससे पचास हजार पूरे हो जायँगे। फिर इसको जन-सम्पत्ति करार दे देने से नगरपालिका के कर से मुक्ति मिल जायगी। यदि मैं पन्द्रह हजार नहीं एकत्र कर सकता हूँ, तो यहाँ पर प्राणोत्सर्ग कर देना बेहतर है, बजाय अमेरिका में समय गँवाने के। जीवन में मैंने अनेक गलतियाँ की हैं; किन्तु उनमें प्रत्येक का कारण रहा है अत्यधिक प्यार। अब प्यार से मुझे घृणा हो गयी है! हाय! यदि मेरे पास भक्ति बिल्कुल न होती! वास्तव में मैं निर्विकार और कठोर वेदान्ती होना चाहता हूँ! जाने दो, यह जीवन तो समाप्त ही हो चुका। अगले जन्म में प्रयत्न करूँगा। मुझे इस बात

का दुःख है---खासकर आजकल---कि मेरे बन्धुओं को मेरे पास से आशीर्वाद की अपेक्षा कष्ट ही अधिक मिला है। जिस शान्ति और निर्जनता की खोज में बहुत समय से कर रहा हूँ, मैं कभी प्राप्त न कर सका।

अनेक वर्षों पूर्व मैं हिमालय गया था, मन में यह दृढ़ निश्चय कर कि मैं वापस नहीं आऊँगा। इधर मुझे समाचार मिला कि मेरी बहन ने आत्महत्या कर ली। फिर मेरे दुर्बल हृदय ने मुझे उस शान्ति की आशा से दूर फेंक दिया!! उसी दुर्बल हृदय ने, जिन्हें मैं प्यार करता हूँ उनके लिए भिक्षा माँगने मुझे भारत से दूर फेंक दिया, और आज मैं अमेरिका में हूँ! शान्ति का मैं प्यासा हूँ; किन्तु प्यार के कारण मेरे हृदय ने मुझे उसे न पाने दिया। संग्राम और यातनाएँ, यातनाएँ और संग्राम! खैर, मेरे भाग्य में जो लिखा है वही होने दो, और जितने शीघ्र यह समाप्त हो जाय, उतना ही अच्छा है। लोग कहते हैं कि मैं भावुक हूँ, किन्तु परिस्थितियों के बारे में सोचिए तो सही! आप मुझसे कितना स्नेह करती हैं! फिर भी मैं आपके दुःखों का कारण बना! इस कारण मैं दुःखी हूं, किन्तु जो होना था, हो गया---अब उसका कोई उपाय नहीं! अब मैं ग्रन्थियाँ काटना चाहता हूँ या इसी प्रयत्न में मर जाऊँगा।

आपकी सन्तान,
विवेकानन्द

पुनश्च---महामाया की इच्छा पूर्ण हो! सैन फ्रॆंसिस्को होकर भारत जाने का खर्च मैं 'जो' से माँगूंगा। यदि वह देगी तो शीघ्र ही मैं जापान होते हुए भारत

के लिए प्रस्थान करूँगा। इसमें एक माह लग जायगा। आशा है कि भारत में काम चलाने लायक या उसे सुप्रतिष्ठित करने लायक दान वहाँ इकट्ठा कर सकूँगा। ... काम की आखिरी अवस्था बहुत ही अन्धकारमय और बहुत ही विशृंखल दिखायी दे रही है—अवश्य मुझे ऐसा ही प्रतीत हो रहा था। किन्तु आप यह कदापि न सोचें कि मैं एक क्षण के लिए भी रण छोड़ दूँगा। भगवान् आपको आशीर्वाद दें। काम करते-करते आखिर रास्ते में मरने के लिए प्रभु मुझे यदि अपने छकड़े का घोड़ा बनायें, तो भी 'उनकी' इच्छा पूर्ण हो। अभी आपका पत्र पाकर मैं अति आनन्दित हूँ, जो मुझे बहुत वर्षों से नहीं मिला। वाह गुरु की फतह! गुरुदेव की जय हो!! हाँ, जैसी भी अवस्था क्यों न आये—जगत् आये, नरक आये, देवगण आयें, माँ आये—मैं संग्राम में लड़ता ही रहूँगा, हार कदापि नहीं मानूँगा। रावण ने साक्षात् भगवान् के साथ युद्ध कर तीन जन्म में मुक्तिलाभ किया था! महामाया के साथ युद्ध करना तो गौरव की बात है!

भगवान् आपका एवं आपके सभी इष्ट-मित्रों का मंगल करें। मैं जितना योग्य हूँ, उससे अधिक, अत्यधिक आपने मेरे लिए किया है।

क्रिश्चिन तथा तुरीयानन्द को मेरा प्यार।

आपका,

विवेकानन्द

# श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

## बारहवाँ प्रवचन

*स्वामी भूतेशानन्द*

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के एक उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स०)

केशव आदि भक्तों के साथ ठाकुर गंगा के वक्ष पर नौका विहार कर रह हैं।

### लोकशिक्षा कठिन कार्य

ठाकुर कह रहे हैं, "लोगों को शिक्षा देना बड़ा कठिन है।" जो शिक्षा देगा, वह भगवान् का आदेश पाने पर तब कहीं इस गुरुतर कार्य का निर्वाह कर सकेगा; ऐसा न होने से उसकी बातों का न तो कोई प्रभाव पड़ेगा, न ही उसकी कोई संगति होगी। जब हम अपनी सीमित बुद्धि के द्वारा असीम को समझाने जाते हैं, तब स्वाभाविक रूप से ही हमारी बातों में विसंगति आ जाती है। ठाकुर दृष्टान्त देते हुए सामाध्यायी की बात कहते हैं। सामाध्यायी व्याख्यान दे रहे हैं—'भगवान् नीरस हैं, तुम लोगों को उन्हें भक्तिरस में डुबोकर रसवान् बना लेना होगा।' देखो तो, वेदों में जिन्हें रसस्वरूप कहा गया है, उन्हें यहाँ नीरस कहा

जा रहा है! इस प्रकार की विसंगति तब आती है, जब मनुष्य अनुभूतिशून्य बात कहता है। ठाकुर उपमा देते हुए कह रहे हैं—कोई जब यह कहे कि 'हमारे मामा के घर में गोशाला-भर घोड़े हैं', तो यह भी वैसी ही एक विसंगति हुई; इससे यही समझना होगा कि घोड़े तो हैं ही नहीं, गाय भी नहीं हैं। इस प्रकार की विसंगति तब होती है, जब हम अपनी बुद्धि का आश्रय लेकर बोलते हैं। जैसा कि एक दिन बेलुड़ मठ में हुआ। एक व्यक्ति गाना गा रहा था—'माझे माझे आमि तव देखा पाइ, चिर दिन कैनो पाइ ना (मैं बीच-बीच मे तुम्हें देख पाता हूँ, सब दिन क्यों नहीं पाता)। गाना सुनकर महापुरुष महाराज बड़े असन्तुष्ट हुए। बोले, "अनुभव न करके केवल काव्य-रचना की है, इसीलिए ऐसी बात कह रहा है। जिस वस्तु का एक मुहूर्त का स्वाद मनुष्य के जीवन को परिवर्तित कर दे सकता है, उसके सम्बन्ध में कह रहा है—'बीच-बीच में तुम्हें देख पाता हूँ, सब दिन क्यों नहीं पाता'!" इसका कारण यह है कि जीवन में उसने उसका स्वाद ही नहीं पाया है, इसीलिए वह नहीं जानता कि उसका एक क्षण का आस्वादन जीवन को कितना परिपूर्ण कर दे सकता है। 'भागवत' में वर्णन आता है, नारद पाँच वर्ष के बालक हैं। उनका एकमात्र बन्धन था उनकी माँ। माँ की मृत्यु के उपरान्त वे तीव्र वैराग्य से युक्त हो संसार त्यागकर चले जा रहे हैं। एक स्थान पर एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए वे गम्भीर ध्यान में मग्न हो गये। ऐसी अवस्था में उन्हें हृदय में भगवान् के आविर्भाव का अनुभव हुआ। उनका अंन्तःकरण परिपूर्ण हो

उठा। कुछ देर बाद भगवान् अन्तर्धान हो गये। तब वे व्याकुल हो अन्तःकरण में पुनः दर्शन चाहने लगे। ऐसे समय उन्हें देववाणी सुनायी पड़ी, "नारद, तुमने जो अनुभव किया है, उसी से तुम्हारा सारा जीवन परिपूर्ण रहेगा। अब तुम इस नाम का गुणगान करते हुए विचरण करो। उसी में तुम्हारे जीवन की सार्थकता है।" देखो, एक मुहूर्त के दर्शन ने उनके समग्र जीवन को परिपूर्ण कर दिया। यह है तत्त्वज्ञ का—रसिक का भाव; यह कविता नहीं है, यह है अनुभूति। अतएव यदि किसी को साक्षात् आदेश मिला हो, तभी उसके द्वारा लोकशिक्षा देना सम्भव है, अन्यथा नहीं। इस लोकशिक्षा के कार्य में यह देखना होगा कि मनुष्य स्वयं अपने आपको किस दृष्टि से देखता है, अपने कर्म का किस प्रकार से मूल्यांकन करता है। यदि वह लोक-शिक्षा देते समय अभिमान न रखे, मात्र चर्चा की दृष्टि से भगवत्कथा-प्रसंग करे, तो इसमें दोष नहीं। लेकिन वह यदि ऐसा अभिमान करे कि 'मैं उपदेश दे रहा हूँ', तब तो यह अज्ञानता छोड़ और कुछ नहीं है।

'भागवत' में कहा है कि एक दिन श्रीकृष्ण की रानियाँ परस्पर चर्चा कर रही थीं कि उनमें से किसने भगवान् में कौन-सा गुण देखा और उनके प्रति आकृष्ट हो गयी। सभी अपना-अपना अनुभव बताने लगीं। यहाँ पर ध्यान रखना होगा कि उनके इस परस्पर वार्तालाप में एक सौन्दर्य है, एक स्वाभाविकता है, अहंकार नहीं। अहंकार तब होता, जब वे यह कहतीं कि भगवान् मात्र इस प्रकार के हैं, अन्य प्रकार के नहीं। वे तो केवल यह बता रही हैं कि वे कौन-सा

गुण देखकर आकृष्ट हुईं। भगवान् अनन्त हैं, उनमें अनन्त प्रकार की विचित्रता है, उनके अनन्त गुण हैं। यह किसी को उपदेश देना नहीं है, यह केवल परस्पर भाव-विनिमय है। इसमें कोई दोष नहीं। दोष तब होता है, जब कोई अपने ऊपर गुरुभाव लादकर अभिमान से पैर पर पैर चढ़ाकर कहता है, "मैं कहता हूँ, तुम सुनो।"

### संसारी का कर्तव्य

इसके पश्चात् एक व्यक्ति प्रश्न करता है, "जब तक ईश्वर-लाभ नहीं होता, तब तक क्या सब कर्म त्याग दें?" इसके उत्तर में ठाकुर कह रहे हैं, "नहीं, सब कर्मों का त्याग क्यों करोगे? उनका चिन्तन, उनका नाम-गुणगान, नित्यकर्म, यह सब करना होगा।" यह सब इसलिए करना होगा कि यह उनको पाने का उपाय है। जो कुछ इसके प्रतिकूल है, उस सबसे यथा-साध्य दूर रहना होगा। इस पर उस ब्राह्मभक्त ने पुनः पूछा, "लेकिन संसार के कर्मों का, विषयों से सम्बन्धित कर्मों का क्या होगा?" ठाकुर कहते हैं, "हाँ, वह सब भी करोगे—संसार-यात्रा के लिए जितनी आवश्यकता हो।" पर हाँ, कर्म में इतनी व्यस्तता न हो जाय कि भगवान् का चिन्तन करने के लिए एक क्षण भी न बचे। जीवन में वैषयिक कर्मों का भी एक अंश है। उन कर्मों के लिए कुछ समय रखना होगा; लेकिन साथ-साथ यह भी देखना होगा कि वे कर्म मानो हमारा सारा समय ही न खा लें। भगवान् को बिसरकर कर्म नहीं करना है, बल्कि कर्म तो उन्हें पाने के लिए है। इसीलिए ठाकुर ने संसारी लोगों से कहा है—एक हाथ

से भगवान् को पकड़ो और दूसरे हाथ से कर्म करो। ये सब बहुत महत्त्वपूर्ण बातें हैं, इसलिए पुनरावृत्ति होने पर भी बार-बार विचार करने योग्य हैं; क्योंकि हम अधिकांशतः संसार में डूबे हुए हैं, संसार के काम-काज लेकर व्यस्त हैं, इसलिए कई बार ऐसा लगता है कि इस व्यस्तता के बीच हम कहीं उन्हें भूल तो नहीं जाएँगे। मन में संशय उठता है और इस संशयाकुल मन में बार-बार प्रश्न जागता है, "तो फिर उपाय क्या है?" उपाय क्या है--यह तो ठाकुर विभिन्न परिवेशों में कई बार बता चुके हैं। उनमें कभी किसी ने निराशा का भाव नहीं देखा। वे सबके लिए नितान्त आशावादी हैं। सभी का होगा, चाहिए केवल आन्तरिकता। जब तक संसार का दायित्व है, तब तक एक हाथ से उन्हें पकड़कर दूसरे हाथ से संसार का काम-काज करो, और जब वे तुम्हें दायित्वों से मुक्ति दे दें, तब उन्हें दोनों हाथों से पकड़ लेना।

### दुनिया का भला करना

आजकल अनेक लोग कहते हैं कि पहले दुनिया का भला करना होगा। यह इस आधुनिक समाज की मनोवृत्ति का ही प्रतिफल है। इस प्रसंग में ठाकुर कह रहे हैं, "दुनिया क्या इतनी-सी है जी, जो तुम उसका भला करोगे? जो करना है, वे ही करेंगे, जिनकी यह दुनिया है। तुम इतने बेचैन क्यों हो?" थोड़ा-सा विचार करने से ही समझ में आ जायगा कि मैं दुनिया का भला करने के लिए जो इतना बेचैन हूँ, उसके पीछे कारण के रूप में संसार के दीन-दुःखी लोगों के प्रति आन्तरिक सहानुभूति है अथवा और कुछ। और इस

'और कुछ' का मूल यदि हम खोजते चलें, तो हम देखेंगे कि इसके पीछे हमारा छिपा अहंकार है, प्रतिष्ठा-अर्जन की छिपी वासना है। यदि हम यह मनोभाव लेकर कर्म करें, तब तो वह हमें आत्मसम्मान की उपलब्धि की ओर खींच ले जायगा और हमें विभ्रान्त कर देगा। यह कर्म का दोष नहीं है, दोष है कर्म करने के कौशल का सहारा न लेना। यह कौशल है भगवान् को पकड़कर कर्म करना, जिससे कर्म की धारा जीवन के उद्देश्य को ही बहाकर न ले जाय। ठाकुर ने शम्भु मल्लिक से कहा था, "भगवान् से भेंट होने पर क्या तुम बहुत से स्कूल, अस्पताल और डिस्पेन्सरी चाहोगे?" ऐसा वे क्यों बोले? ये सब तो अच्छे कार्य हैं। अच्छे कार्य तो हैं, लेकिन भगवान् के आस्वादन को गौण करके कुछ अस्पताल-डिस्पेन्सरी को मुख्य बना देना वैसा ही है जैसे कंचन को फेंककर काँच को लेकर खेलना। वस्तुत: भगवान् ही मुख्य हैं, वे ही प्रधान हैं—उसके बाद अन्य सब। इसलिए कह रहे हैं, "पहले जैसे भी हो, काली-दर्शन कर लो।" तात्पर्य यह है कि हम इस जगत् में भगवान् को पाने आये हैं, उनका आस्वादन करने आये हैं—यह बात कहीं हम भूल न जाएँ। 'वचनामृत' में हम पढ़ते हैं कि ठाकुर के एक जन्मदिन के अवसर पर भवनाथ दक्षिणेश्वर गये और वहाँ थोड़ी देर रुककर किसी बैठक में भाग लेने के लिए उठ खड़े हुए। बैठक श्रमिक कल्याण के सम्बन्ध में थी। ठाकुर कहने लगे, "यहाँ कितना हरिनाम होगा, कितना आनन्द मनाया जायगा, पर यह सब उसके भाग्य में नहीं है।" ठाकुर को अफसोस हुआ। लेकिन

क्यों? भवनाथ तो अच्छा कार्य करने ही जा रहे थे। कार्य अच्छा तो है, लेकिन सामने भगवद्भजन का जो सुअवसर था, उसकी उपेक्षा करके एक लोकहित-कर कार्य की दुहाई देना ठाकुर की दृष्टि में एक स्वर्णिम अवसर को गँवा देने के समान था।

**आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**

स्वामीजी (विवेकानन्दजी) ने 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' कहकर रामकृष्ण मिशन का जो आदर्श रखा, उसमें उन्होंने स्वयं की मुक्ति की साधना के साथ जगत् के हित को जोड़ दिया। संन्यासियों के सामने भी उन्होंने यही आदर्श रखा। कई बार लोगों के मन में संशय उठता है कि जगत् का हित करने जाकर कहीं हमारे स्वयं के मोक्ष में तो बाधा नहीं पड़ेगी? एक साधु ने यही बात हरि महाराज को लिखी थी। हरि महाराज खूब त्याग-वैराग्य का उपदेश देते थे, इसलिए साधु ने सोचा था कि हरि महाराज उसका समर्थन करेंगे। उसने लिखा था—"मैं समझता हूँ कि अब और काम-काज नहीं करूँगा, क्योंकि वह करने से अहंकार आता है।" हरि महाराज ने उसके उत्तर में लिखा था—"तुम क्या समझते हो कि हाथ-पाँव सिकोड़कर बैठे रहने से अहंकार नहीं आएगा?" यह बात हमें ठीक से समझ लेनी होगी कि मनुष्य जिस भाव में गठित है, उसके मन की जो विभिन्न प्रकार की वृत्तियाँ हैं, उन सबको लेकर ही उसे भगवान् की ओर जाने की चेष्टा करनी होगी। हमारे अन्तः-करण में विचार करने के लिए जो मन रूप यंत्र है, उसके द्वारा जैसे उनका चिन्तन करना होगा, उसी प्रकार बाहर की समस्त इन्द्रियों के द्वारा उनकी सेवा करनी होगी। स्वामीजी

यह बात बार-बार कहते थे कि भगवान् की सेवा को केवल विग्रह में सीमित रखने से समझना होगा कि हमने उनकी सेवा को सँकरा बनाकर रख दिया।

**भागवत वाणी**

इस सम्बन्ध में 'भागवत' में बडी अच्छी बात कही गयी है—

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ।।

—जो भगवान् के विग्रह मात्र में उनकी पूजा करते हैं, पर भगवान् के भक्तों की ओर जिनकी दृष्टि नहीं होती, उन्हें प्राकृत भक्त कहते हैं, अर्थात् प्रकृति का प्रभाव उन पर अधिक होता है। और श्रेष्ठ भक्त के सम्बन्ध में कहा गया है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ।।

—श्रेष्ठ भक्त वे हैं, जो सर्वभूतों में स्वयं की आत्मा को देखते हैं तथा 'भूतानि भगवति आत्मनि', अर्थात् समस्त भूतों को उस भगवान् में देखते हैं, जो उनकी आत्मा ही है। आत्मा जैसे प्रिय होती है, वैसे ही उन्हें सर्वभूत प्रिय होते हैं। भगवान् जैसे पूजनीय हैं, सर्वभूतों में अवस्थित भगवान् भी उसी प्रकार पूजनीय हैं। तभी तो 'जीवदया' की बात ठाकुर को पसन्द नहीं आयी। इसके बदले उन्होंने कहा था, 'शिवज्ञान से जीवसेवा'। इसे सुनकर स्वामीजी बोल उठे थे, "आज एक ऐसा उपदेश प्राप्त हुआ कि यदि भगवान् कभी अवसर देंगे तो उसका प्रचार करूँगा।" तभी तो

ठाकुर मानो उन्हें लेकर आये थे और उन्हें अपने हाथ के यंत्र के रूप में तैयार किया था। इसी का परिणाम था कि आध्यात्मिक जगत में एक नयी साधना की धारा प्रवर्तित हुई। लोककल्याण की बात पहले भी प्रचलित थी, लेकिन सर्वभूतों में उनकी सेवा के भाव को इस प्रकार खुलासा करके किसी ने नहीं कहा था। यद्यपि 'भागवत' में इसका उल्लेख है, तथापि ऐसा लगता है कि साधनात्मक जीवन में इसका प्रयोग करने के लिए ऐसा सुस्पष्ट निर्देश और कहीं भी नहीं मिलता। तभी तो ठाकुर ने कहा है, "भगवान् की पूजा जब वृक्ष में हो सकती है, पत्थर में हो सकती है, प्रतिमा में हो सकती है, तब मनुष्य में क्यों नहीं हो सकती?" सब जीवों की अपेक्षा मनुष्य में भगवान् का श्रेष्ठ प्रकाश है, क्योंकि इस मनुष्य के भीतर ही उन्हें प्राप्त करने का, उनके साथ अभिन्नता अनुभव करने का सुयोग मिलता है। इस दृष्टि से देखने पर मनुष्य की श्रेष्ठता अस्वीकार नहीं की जा सकती। यह मनुष्य इतनी दूर तक आगे जा सकता है कि भगवान् के साथ अभिन्नता तक की अनुभूति कर सकता है।

इसी दृष्टि से उपनिषदों ने मनुष्य को बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। उपनिषद् में कहा है—"यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके, यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके, छायातपयोरिव ब्रह्मलोके।" इस नरलोक में आत्मा को किस प्रकार देखा जाता है? दर्पण में प्रतिबिम्ब को जिस प्रकार देखा जाता है, उसी प्रकार निर्दोष रूप से। पितृलोक में स्वप्न में देखी गयी वस्तु की तरह उसे देखा जाता है। गन्धर्वलोक में जल

पर पड़नेवाले प्रतिबिम्ब के समान उसका अनुभव होता है। केवल ब्रह्मलोक में उसका स्पष्ट रूप से अनुभव होता है; जैसे अन्धकार और प्रकाश पृथक्-पृथक हैं, वैसे ही आत्मा भी वहाँ पर अनात्मा से पृथक दिखलाई पड़ती है।

**नर-जन्म और आत्मज्ञान**

ब्रह्मलोक वह स्थान है, जहाँ पर मनुष्य की शुद्धता देवताओं की शुद्धता को भी पीछे छोड़ देती है। वहाँ के लिए यही तुलना है। इससे यह बात समझ में आएगी कि मनुष्यलोक का स्थान कितना ऊँचा है तथा इस मनुष्य के भीतर उनका प्रकाश कितना स्पष्ट है। अतः मनुष्य में उनकी पूजा न करके जहाँ उनका प्रकाश अल्प है केवल वहाँ उनकी पूजा करने से हमारी पूजा अपूर्ण रह जाती है। इसलिए सर्वत्र उनकी पूजा की दृष्टि लेकर हम काम करें। जब भी हम किसी की सेवा करेंगे, तब यह समझते हुए करेंगे कि हमें सेवा करने का सौभाग्य मिला, इसीलिए सेवा कर पा रहे हैं। सेव्य को हम मानो अपने से ऊँचे आसन पर बिठाएँ और स्वयं को उनका सेवक मानें। तब कहीं हमारे कार्य त्रुटिहीन होंगे, मन भगवान् से दूर नहीं बहकेगा और कर्म हमारे लिए बन्धन का कारण न बन बन्धन-मोचन का उपाय बनेंगे।

○

# श्रीरामकृष्ण-महिमा (१२)

*अक्षय कुमार सेन*

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुंथि' काव्य बंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में कार्यरत हैं। —स०)

(गतांक से आगे)

पाठक—ज्ञान, भक्ति क्या वस्तु हैं?

भक्त—भक्ति क्या वस्तु है, उसे मुख से प्रकट करना सम्भव नहीं है। पर इस भक्ति की एक तरंग उठती है, उस तरंग के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है। वह तरंग क्या है जानते हो?—वह है भगवद्दर्शन तथा भगवत्सेवा की स्वार्थशून्य एकनिष्ठ प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति जिस मूल वस्तु से उत्पन्न होती है, उसे भक्ति कहते हैं। यह भगवान् के भाण्डार का एकमात्र मणि है और इसीलिए इस वस्तु के प्रति उनका बड़ा प्यार है। वे वस्तु को तो प्यार करते ही हैं, साथ ही जिस आधार पर इस वस्तु को रखते हैं उस आधार को भी प्यार करते हैं। भक्ति को प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है। यह एकमात्र भगवान् की कृपा पर निर्भर करता है। उनकी कृपा ही उनकी भक्ति है। उसे वे अपनी इच्छा से जीव को देते हैं, वह कैसे, जानते हो?—भगवान् का स्वभाव ठीक एक छोटे से बालक के स्वभाव के समान है। पिता ने जैसे बच्चे के हाथ में एक लड्डू दिया, तो बच्चा हाथ में लड्डू को ले

उसे कसकर पकड़े रहता है। ऐसे समय में यदि पिता अथवा अन्य कोई सम्वन्धी उस लड्डू को माँगे तो देना तो दूर की बात, वह हाथ समेत उसे पेट के भीतर छिपा लेगा और अस्थिर होकर कह उठेगा—नहीं, मैं लड्डू नहीं दूँगा। पर बाद में (जैसा कि वच्चे का स्वभाव होता है) हो सकता है वह रास्ता चलते किसी अपरिचित व्यक्ति को हाथ दिखाकर बुला ले और अपने हाथ का लड्डू उसे दे दे। भक्ति देने के सम्बन्ध में भगवान् की भी ऐसी ही रीति है। वे उसे दूसरे को दे उसे अपना वना लेते हैं। पहले वे भक्ति का दान करते हैं, फिर भक्त बनाते हैं अर्थात् भक्ति देकर भक्त बनाते हैं। यह भक्ति ठाकुर रामकृष्ण के लिए ठीक कसौटी के समान है। वह यदि रामकृष्णदेव के मन के अनुरूप होती थी तो उसे ग्रहण करते थे, नहीं तो त्याग देते थे। वनिया जैसे जिस किसी के भी हाथ में सोना क्यों न रहे, प्यार करता है, उसी प्रकार ठाकुर भी जिस किसी में भक्ति देखते, उससे ही प्यार करते—फिर चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, ब्राह्मण हो अथवा ईसाई। क्या वेश्या, क्या लम्पट, क्या शराबी, जिसके भी भीतर इस वस्तु को देख पाते, उसी पर प्यार बरसाते।

रामकृष्णदेव भगवान् हैं, इसका प्रमाण उनकी यह भक्तिप्रियता ही है। व्यक्ति चाहे जिस किसी भी स्थिति का हो, चाहे जिस किसी स्वभाव का हो, चाहे जिस किसी देश अथवा धर्म का हो, उसके भीतर भक्ति देख पाने से ही वह ठाकुर का अपने से भी बढ़कर अपना हो जाता। क्या तुमने ठाकुर का और एक

स्वभाव देखा है? उसे जो देखेगा, वह सहजता से समझ जायगा कि ठाकुर ही मानो स्वयं भक्ति-प्रेमी भगवान् हैं। जिस जिस आधार में भक्ति है, उस उस आधार में मानो वे ही निवास कर रहे हैं। एक व्यक्ति के हृदय में भक्ति है, पर उसने कभी श्रीरामकृष्ण को उनके अवतार-काल में देखा नहीं। ठाकुर यदि एक बार भी उसे कहीं देख पाते, तो दौड़े जाकर उसे पकड़ लेते और थोड़े समय में ही उसे अपना बना लेते। जिस तरह राज्य में दूर-दूर तक जितने तारघर हैं, उन सबका संयोग प्रमुख तारघर से होता है, ठीक उसी प्रकार मैं स्पष्ट देख पा रहा हूँ कि जहाँ भी कोई भक्तिमान् व्यक्ति है, उसका ठाकुर रामकृष्ण से प्रत्यक्ष योग बना हुआ है। इस विषय में प्रमाण हेतु मैं 'नव्य-भारत' के २०वें खण्ड, चतुर्थ संख्या में पृष्ठ २१० पर छपे 'साध्वी शबरी' शीर्षकवाले लेख से पढ़ता हूँ, सुनो—

"उस दिन पार्लियामेंट के सदस्य डिग्बी साहब ने परमहंस रामकृष्ण के सम्बन्ध में जो लिखा है, उसे पढ़कर ऐसी कौन भारत-सन्तान है, जिसमें आशा का संचार न हो? डिग्बी साहब कहते हैं, 'राबर्ट ब्राउनिंग तथा जॉन रस्किन वर्तमान शताब्दी के इंग्लैंड के प्रमुख व्यक्ति हैं, किन्तु वे भी निरक्षर रामकृष्ण की तुलना में अँधेरे में हाथ टटोलते फिर रहे हैं'।"

भाई, भक्ति की महिमा देखो और ठाकुर रामकृष्ण की महिमा देखो—कहाँ ठाकुर रामकृष्ण और कहाँ डिग्बी साहब! उन साहब के भीतर ठाकुर ने एक ऐसी वस्तु रखी है कि वे मुग्ध हो अपने ही देश के

दो विद्वानों को क्षुद्र से भी क्षुद्रतर समझ रहे हैं। धन्य हैं ठाकुर रामकृष्ण और धन्य है उनकी भक्ति! जिस प्रकार अन्धकार के माध्यम से प्रकाश की महिमा समझ में आती है, उसी प्रकार अभक्तिमान् हृदय के बीच भक्तिमान् का माहात्म्य परिलक्षित होता है।

कहाँ सात सागर पार डिग्बी साहब हैं, जिन्होंने रामकृष्णदेव का केवल नाम सुना है और उनके कथन, उपदेश तथा जीवन के सम्बन्ध में थोड़ी बहुत बातें सुनी हैं! केवल इसी के सहारे उन्होंने ठाकुर की महिमा समझी तथा ठाकुर को परम आराध्य जानकर उन्हें अपने हृदय में बसा, उनकी महिमा के बारे में कई लेख लिखे तथा स्वार्थ एवं अहंकार से शून्य होकर जन-साधारण के बीच उनका डंके की चोट पर प्रचार किया।

और इधर हमारे स्वदेशी भाइयों ने जिन्होंने ठाकुर के इतने करीब रहकर अपने ही कानों से उनकी सब बातें सुनी थीं, उनके अलौकिक जीवन की आलोचना कर उन्हें एक उन्मत्त पागल करार दिया! और ठाकुर को पागल करार देकर ही वे निश्चिन्त हुए हों, ऐसी बात नहीं, उसके साथ स्वयं को भी कुछ करार दिया है। क्या करार दिया है जानते हो?—उन्होंने करार दिया है कि वे लोग बड़े सयाने, चतुर, बुद्धिमान्, गुणी, धैर्यवान्, श्रीमान्, वीर्यवान् अर्थात् जितने भी मान् अथवा वान् हैं, उन सबके एकछत्र स्वामी हैं!

अँगरेजों ने ही क्योंकर ठाकुर की महिमा की खबर पायी तथा स्वदेशी भाइयों ने उन्हें दूसरे प्रकार से क्यों समझा, इसका कारण यह है कि अँगरेजों के हृदय म

भक्ति है और इनका हृदय भक्ति से शून्य है। हमारे ठाकुर भी सयानों के सयाने हैं। एक ओर इतने दयालु हैं कि किसी को भूखा देख, रो-रोकर जमीन भिगो देते हैं, परन्तु दूसरी ओर भक्ति देने में कंजूसों के भी कंजूस हैं। उन्हें धोखा देकर कोई कुछ हथिया ले, ऐसा व्यक्ति संसार में आज तक नहीं जन्मा। जहाँ भक्तिदान की बात है, यह दान जिस किसी को प्राप्त नहीं होता। वे भावावेश में कहते, "मैं चाहूँ तो अमड़ा को आम बना सकता हूँ, पर मुझे भला इसकी क्या आवश्यकता? मेरे तो आम का बगीचा है।" किसी के भक्ति हेतु प्रार्थना करने पर वे एक गीत गाते—

मुक्ति देने में है मुझको डर नहीं,<br>
लगे डर, यदि भक्ति माँगे कोई।<br>
भक्ति पाये जो, उसका पार न पाये कोई,<br>
सदा त्रिभुवन में वही होता जयी॥<br>
एक मेरी भक्ति वृन्दावन में है,<br>
सिवा गोपी-गोप के न जाने कोई।<br>
नन्द के आँगन फिरूँ उन्हें पिता मान,<br>
भार उनका अपने माथे पर धरी॥<br>
भक्ति मैं कहता सुनो चन्द्रावली,<br>
मुक्ति मिलती है बहुत, भक्ति नहीं।<br>
भक्ति हेतु ही मैं रहूँ पाताल में,<br>
राजा बलि के द्वार का बन प्रहरी॥

भक्ति के सम्बन्ध में श्रेष्ठ उदाहरण हैं वृन्दावन के गोप-गोपी। अब तुम समझ लो भक्ति क्या वस्तु है। तुमने तो रसगुल्ला भी खाया है और मिश्री भी खायी है। यद्यपि दोनों ही मीठे हैं, पर फिर भी रसगुल्ले

और मिश्री के स्वाद में अन्तर है। उसी प्रकार ज्ञान और भक्ति में भी अन्तर है। भक्ति रसगुल्ला है और ज्ञान मिश्री।

और एक बात में इन दोनों के अन्तर को उपमा देकर बताता हूँ सुनो—तुमने हावड़ा ब्रिज याने गंगा पर का पुल देखा है तो? पुल के दोनों किनारों पर लोगों के आने-जाने के लिए फुटपाथ है तथा फुटपाथ के किनारे सख्त रेलिंग है। रेलिंग का उद्देश्य यह है कि मनुष्य फुटपाथ पर से चाहे जिस प्रकार क्यों न चले, पुल से गंगा के जल में उसके गिरने की सम्भावना न रहे। यहाँ भक्ति पुल के फुटपाथ के समान है और ज्ञान ठीक रेलिंग के समान। भक्तिपथ पर चलते-चलते यदि किसी का पैर असावधानी के कारण फिसल जाय, तो ज्ञान उस स्थिति में उसकी रक्षा करता है। जहाँ भक्ति है, वहाँ ज्ञान भी है। इसकी ठीक उपमा ज्वलन्त अग्नि है। जहाँ भी अग्नि प्रज्वलित अवस्था में है, वहाँ वायु अवश्य ही होगी। भक्ति के साथ साथ जो ज्ञान होता है, उसे भक्तिमिश्रित ज्ञान कहते हैं। और जहाँ केवल ज्ञान है, वहाँ वह मिश्री के समान निर्मल, कठोर तथा कर्कश है। इस प्रकार ठाकुर के श्रीमुख द्वारा ज्ञान के साथ भक्ति की जो उपमा और तुलना दी गयी है, वह यह है कि ज्ञान पुरुष के स्वभाववाला है और भक्ति है स्त्री-स्वभावसम्पन्ना।

यह सही है कि ज्ञान के द्वारा भी ईश्वर-लाभ होता है और भक्ति के द्वारा भी ईश्वर-लाभ होता है, परन्तु इन दोनों में एक अन्तर है। इसके सम्बन्ध में ठाकुर कहते थे—जैसे एक बड़े व्यक्ति का बैठकखाना

और जनानखाना होता है। बैठकखाने में सभी जा सकते हैं, किन्तु जनानखाने में केवल स्त्रियों का प्रवेशाधिकार रहता है, पुरुष लोग वहाँ नहीं जा सकते। ठीक उसी प्रकार ईश्वर का बैठकखाना भी है तथा जनानखाना भी। ज्ञान पुरुषवर्ग का है। उसे केवल बैठकखाने तक जाने का अधिकार है। ईश्वर यदि बैठकखाने में रहें, तभी ज्ञान उनका दर्शन पाएगा, अन्यथा ईश्वर कब जनानखाने से बैठकखाने में आते हैं, ज्ञान को उनकी प्रतीक्षा में बैठे रहना होगा। परन्तु भक्ति स्त्रीवर्ग की है। उसने यदि देखा कि ईश्वर बैठकखाने में नहीं हैं, तो वह सीधे भीतर चली जाती है और ईश्वर से भेंट करती है। भक्ति का बैठकखाने और जनानखाने दोनों जगह प्रवेश का अधिकार है, परन्तु ज्ञान का भीतर जाने का अधिकार नहीं। इस ज्ञान-भक्ति के द्वारा जब तक ईश्वर-लाभ नहीं होता है, तब तक जीवात्मा विभिन्न शरीर लेता और छोड़ता रहेगा अर्थात् उसका जन्म और मृत्यु का चक्कर बन्द नहीं होगा।

पाठक—बातचीत तो सुनने में बड़ी मजेदार लगती है कि 'मछली भी पकड़ में आ जाए और पानी को छूना भी न पड़े।' देखता हूँ यह आदि से अन्त तक ईश्वर का ही कार्य है। अब एक बात जानना चाहता हूँ कि जीवात्मा कैसे और किस प्रकार देह में प्रवेश करता है तथा किस तरह देह का परित्याग करता है।

भक्त—तुमने चन्द्रग्रहण अथवा सूर्यग्रहण के समय की अवस्था देखी है तो? यहाँ भी ठीक वही बात है। चन्द्र अथवा सूर्य को जब राहु पकड़ता है, तब राहु को

कोई देख नहीं पाता, परन्तु सूर्य और चन्द्र पर घटी हुई क्रिया से यह समझा जा सकता है कि राहु ने कब सूर्य अथवा चन्द्र को पकड़ा अथवा कब छोड़ा। ठीक उसी प्रकार देह को धारण करनेवाली शक्ति की क्रिया से समझा जा सकता है कि जीवात्मा ने कब शरीर में प्रवेश किया अथवा कब उसका त्याग किया। शरीर के कुछ सामान्य लक्षण हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि जीवात्मा शरीर में है अथवा उसने शरीर छोड़ दिया है। इस सम्बन्ध में एक सुन्दर बात यह है कि जन्म के समय वह सशरीर आता है और मृत्यु के समय उस शरीर का त्याग करके जाता है; यह मेरी उपलब्धि है। शरीर छोड़ने के समय यह स्पष्ट समझ में आता है कि उसने शरीर छोड़ दिया, किन्तु जन्म के समय वह देह कैसे ग्रहण करता है इस विषय में कोई जानकारी नहीं है। जीवात्मा, परमात्मा के हाथ का पुतला है। जीवात्मा स्वयं होकर जन्म-मृत्यु को नहीं जान पाता। माया के खेल का तरीका अद्भुत है। माया तुम्हें किसी भी प्रकार जानने नहीं देगी कि वह किस प्रकार तुम्हारे भीतर घुसकर तुम्हें बन्दर की भाँति नचा रही है। जब तक माया का त्याग नहीं होता, तब तक घर के भीतर प्रवेश करने का कोई उपाय नहीं है।

पाठक—माया फिर जाती कैसे है?

भक्त—माया को पहचान लेने से वह भाग जाती है। वह किस तरह जानते हो?—एक गृहस्थ के घर चोर घुसा है। गृहस्वामी को भनक मिलने से जैसे चोर भाग जाता है, वैसे ही माया को जान-पहचान लेने से

वह भाग जाती है।

ठाकुर की एक मजेदार कहानी सुनो—एक कन-फुकवा गुरु को अपने शिष्य के यहाँ जाना था। परन्तु उसका बोझा ढोनेवाला कोई नहीं था। इधर-उधर तलाश करते हुए उसकी एक मोची से भेंट हुई। ब्राह्मण ने मोची से कहा, "अरे, मेरा सामान लेकर चलेगा?" उसने कहा, "महाराज, मैं तो मोची हूँ।" ब्राह्मण को तो बड़ी जरूरत थी। उसने कहा, "अरे तू चल, मैं किसी से नहीं कहूँगा।" मोची राजी हो गया, पर साथ ही बोला, "यदि किसी ने मुझे जान-पहचान लिया तो मैं तुरन्त भाग आऊँगा।" ब्राह्मण सहमत हो गया। वह सामान बाँध-बूँधकर, मोची के सिर पर लादकर निकला और अपने एक ब्राह्मण-शिष्य के घर जा उपस्थित हुआ। मोची डर के मारे चुपचाप एक किनारे पर बैठा रहता।

एक दिन शिष्य के घर किसी व्यक्ति ने उस बोझा ढोनेवाले को ऊँचे वर्ण का समझकर कहा, "अरे, मैं मुँह धोऊँगा, जरा पानी के लोटे को सरका दे।" यह सुन बोझावाला डर के मारे गुमसुम हो गया। उसे लोटे को छूने का साहस नहीं हुआ। संकोच के कारण मोची से आज्ञा-पालन में जितनी देर होने लगी, उतना ही लोटे को सर-काने के लिए ब्राह्मण की कड़कदार आज्ञा बार-बार स्वर से निकलने लगी। कहना न मानने पर ब्राह्मण ने क्रोधित हो बोझेवाले से कहा, "अरे, तू मोची है क्या? ब्राह्मण का कहा नहीं मानता?" तब वह काँपते-काँपते बोला, "ओ महाराज जी, मुझे पहचान लिया गया है, मैं चला।" ऐसा कहकर वह जोरों

से भागा। यहाँ भी ठीक वही बात है। माया को पहचान लेने से ही माया भाग जाती है। पर एक बात है—जो माया काम-कांचन में मोहित करके रखती है, वह अविद्या-माया है। अविद्या-माया के जाते ही विद्या-माया का राज्य आ जाता है। इस राज्य का कोई ओर-छोर नहीं है। जितनी दूर चाहे जिधर जाओ, विद्या-माया का राज्य समाप्त नहीं होता। सुना है, समाधि में जाने पर ही विद्या-माया के पार जाया जा सकता है। वह बहुत दूर की बात है। उसकी मुझे कोई भी जानकारी नहीं। मैं तो देखता हूँ, सब शक्ति का ही खेल है। सारा विश्व-ब्रह्माण्ड ही माँ राजराजेश्वरी का राज्य है। मूल परमाप्रकृति से यह सृष्टि हुई है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश इसके ही आज्ञानुसार कार्य करते हैं। जब वे आदिपुरुष, एकेश्वर अवतार के रूप में आते हैं, तो उन्हें इस परमाप्रकृति के भीतर से ही आना होता है। वे उसकी शक्ति से शक्तिवान् होकर खेल करते हैं, फिर उसके भीतर ही समाहित हो जाते हैं। ठाकुर के मुख से सुना है—

अनन्त राधा की है माया नहीं कही कछु जाय।
कोटि कोटि हो राम कृष्ण फिर जिसमें जाय समाय ।।

ठाकुर कहते कि प्रत्येक अवतार इस महाशक्ति-सागर का एक-एक बुलबुला मात्र है।

इस सृष्टि में तुम जो कुछ देखते अथवा सुनते हो, जानते अथवा कल्पना करते हो, सब उसी परमा-प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं तथा वह प्रकृति ही सबके भीतर है। वही देह है, फिर वही देही; वही यन्त्र

है, फिर वही यन्त्री; वही रथ है, फिर वही रथी; वही पुरुष है, फिर वही प्रकृति; वही शिव है, फिर वही शिवानी।

पाठक—महाशय, आपकी बातें बड़ी ही विचित्र तथा उलझन-भरी हैं, क्योंकि कुछ ही पहले आपने आत्मा को सर्वेसर्वा कहा है, और अब शक्ति को सर्वेसर्वा कहते हैं। जिसकी शक्ति है, उसे तो आप आड़ में रखते हैं और शक्ति को सर्वेसर्वा बताते हैं। फिर एक बात और, यदि प्रकृति-शक्ति ही आधार, आधेय तथा समस्त सृष्ट वस्तु होवे, तो फिर पुरुष गये कहाँ ?

भक्त—रामकृष्णदेव कहते थे, जब तक गुरु की कृपा से ईश्वर-लाभ तथा आत्मदर्शन नहीं होता है, तब तक ये समस्त ईश्वरीय तत्त्व बड़े जटिल तथा दुर्बोध्य बने रहते हैं। ईश्वर की प्राप्ति न होते तक पुकार, प्रार्थना तथा भाग-दौड़ की समाप्ति नहीं होती। किन्तु एक बार ईश्वर-दर्शन तथा आत्मदर्शन होने पर अन्तर्जगत् और समस्त तत्त्व दिवालोक की भाँति प्रत्यक्ष हो जाते हैं तथा सारे संशयों का निर-सन हो जाता है।

वह अनादि, अखिल, एकेश्वर, चाहे जिस नाम से परिचित क्यों न हो, एक को छोड़ दूसरा नहीं है। उसकी दो अवस्थाएँ हैं—एक नित्य और दूसरी लीला। नित्य की अवस्था में वह किससे उत्पन्न हुआ है अथवा उसका क्या स्वरूप है, इसे केवल वही जानता है। इतना कहने में ही नित्य अवस्था की बात हो जाती है। किन्तु लीला की अवस्था में वह

एक ही वस्तु इतने विभिन्न रूपों में परिणत हुई है कि उसे जो कहा जाए, वह वही है। और उस अवस्था में देखने, बोलने, सुनने की इतनी बातें हैं कि युग-युगान्तर तक देखते, बोलते और सुनते रहने पर भी तिलमात्र का भी वर्णन खत्म होने का नहीं।

जो पुरुष है, वही प्रकृति है। एक ही दो बना है, परन्तु दोनों में कोई भेद नहीं है। दोनों मिलकर एक हैं। केवल लीला अथवा सृष्टि के लिए वह एक से दो हुआ है। वह किस प्रकार जानते हो? जैसे एक चना पानी में रखने से दो दानों में विभक्त हो जाता है और फलस्वरूप दो दानों के बीच अंकुर उगता है, उसी प्रकार एक वस्तु ही पुरुष और प्रकृति के रूप में परिणत हो सृष्टि की उत्पत्ति का कारण बनती है। परमात्मा अथवा ब्रह्म अपने स्वरूप में चाहे जिस अवस्था में हो, पर लीलावस्था में अर्थात् सृष्टि-प्रक्रिया में उसे शक्ति की आवश्यकता होती है। जैसे मात्र मिट्टी से गढ़ने का काम नहीं होता, उसमें जल मिलाना आवश्यक होता है, उसी प्रकार लीला में अकेले ब्रह्म से काम नहीं होता, उसमें शक्ति की विशेष आवश्यकता होती है। वह एक ही वस्तु लीला में एक रूप में पुरुष है तो दूसरे रूप में प्रकृति। वस्तु में कोई भेद नहीं है, किन्तु लीला में विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होकर वह भेदों का दिखावा करती है। जैसे आटा पीसने की चक्की को लें। चक्की में क्या है? दो गोल पत्थर—एक ऊपर है और दूसरा नीचे। नीचे के पत्थर के ठीक बीचों-बीच लकड़ी की एक खूंटी है तथा ऊपर के पत्थर

के ठीक बीच में एक छेद है। खूंटे पर छेद को बिठाकर दोनों पत्थरों से एक साथ काम लेने पर जैसे कार्यफल के रूप में हमें आटा प्राप्त होता है, ठीक उसी प्रकार एक वस्तु के दो रूपों में परिवर्तित हो एक साथ काम करने का कार्यफल यहाँ पर सृष्टि है। तुम उसे केवल पुरुष भी कह सकते हो, केवल प्रकृति भी कह सकते हो और फिर पुरुष-प्रकृति भी कह सकते हो। जब वह पुरुष और प्रकृति इन दो रूपों में खेलने में व्यस्त होता है, तब वह उसकी लीला की अवस्था है। लीला में पुरुष से बढ़कर प्रकृति का खेल ही विशेष रूप से देखने में आता है। इस सम्बन्ध में ठाकुर की उपमा क्या है जानते हो? जैसे एक गृहस्वामी हैं—बूढ़े और बड़े हुक्काखोर। हुक्का पीना ही उनका दिन-रात का काम है। वे कोई बातचीत नहीं करते और यदि बोलना ही पड़ा, तो अधिक से अधिक 'हाँ' 'हूँ' मात्र कहते हैं। घर का जो सारा काम-काज देखने अथवा करने का है, वह सारा भार गृहस्वामिनी पर है। मालकिन बड़ी चतुर है। जो भी करने का है, वह सब जानती है और करती है। केवल गृहस्वामी की सम्मति लेने के लिए उनसे एक बार पूछ भर लेती है। मालकिन चाहे जितनी कुशल हो, घर-मालिक से पूछे बिना कोई काम नहीं करती; और करने का उपाय भी नहीं है। काम की सारी समस्याएँ वह मालिक के सामने दुहरा जाती है। मालिक सब सुनकर उत्तर देते हैं 'हूँ'। मालिक की 'हूँ' को सुन मालकिन कर्मक्षेत्र में लौट आती है और सब तरफ

हुकुम चलाकर काम कराने लगती है। काम करनेवाले लोग मालकिन को ही सर्वेसर्वा देखते और समझते हैं। मालिक हैं अथवा नहीं इसका कोई संकेत ही नहीं पाता। यहाँ लीला के क्षेत्र में भी वही बात है। केवल शक्ति का खेल ही परिलक्षित होता है तथा उसकी ही प्रधानता देखने में आती है। लीला में राजराजेश्वरी शक्ति का ही राज्य और प्रभुत्व है। चक्की के दो पत्थरों में जैसे नीचे का पत्थर रहता मात्र है, कार्य तो ऊपरवाला पत्थर करता है, उसी प्रकार लीला के क्षेत्र में पुरुष की केवल अवस्थिति मात्र है, समस्त खेल एकमात्र शक्ति का ही है। जब तक मन है, जब तक अहं है, तब तक शक्ति के राज्य के भीतर रहना होता है, किन्तु उसके परे अर्थात् मन का नाश और अहं का नाश होने पर क्या अवस्था होती है तथा कहाँ अवस्थान होता है, उसके सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं कह सकता।

पाठक—वह कब घर-मालिक होता है और कब मालकिन ?

भक्त—निर्गुण अवस्था में वह मालिक होता है और सगुण अवस्था में मालकिन। उस एक ही की ये दो अवस्थाएँ हैं। जो निर्गुण है, वही सगुण है। निर्गुण का आस्वादन नहीं किया जा सकता, किन्तु सगुण का आस्वादन होता है।

(क्रमशः)

○

# मानस-रोग (५/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके पाँचवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। इस प्रवचनमाला की ८ किस्तें 'विवेक-ज्योति' के पिछले आठ अंकों में प्रकाशित हो चुकी हैं। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। --स०)

व्यक्ति जब अस्वस्थ होता है तो वह अस्वस्थता के निराकरण के लिए डाक्टर अथवा वैद्य के पास जाता है। डाक्टर अथवा वैद्य का सबसे पहला कार्य होता है निदान। निदान का तात्पर्य है—रोग के स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान। वैद्यों की अपनी अलग पद्धति होती है। वे नाड़ी के माध्यम से रोगों का निदान करते हैं। वे देखते हैं कि वात, पित्त और कफ की नाड़ियों में से किसमें गति तीव्र है और उसके आधार पर वे रोग का निदान करते हैं तथा उसके अनुरूप चिकित्सा करते हैं। काशी के एक बड़े प्रसिद्ध वैद्य थे—श्री सत्यनारायणजी शास्त्री। उनका एक नियम था कि जब रोगी उनके पास जाता, तो वे रोगी से यह नहीं पूछते थे कि उसे क्या रोग हुआ है। वे नाड़ी के द्वारा उसके रोग का निदान कर लेते और उसे कागज पर लिख लेते थे। फिर रोगी से पूछते कि क्या उसे अमुक प्रकार का रोग अथवा अमुक प्रकार की शारीरिक समस्याएँ हैं। कुछ रोग ऐसे होते हैं, जो बड़े लज्जा-

जनक माने जाते हैं और जो मनुष्य के दुष्कर्मों के परिचायक होते हैं। अत: स्वाभाविक रूप से ऐसे रोगी संकोच के कारण अपने रोग को छिपाने की चेष्टा करते। उन्हें स्वीकार करने में बड़ा संकोच होता कि उन्हें ऐसा घृणित रोग हुआ है। ऐसी दशा में इनका एक सुनिश्चित नियम था कि वे एसे रोगी से कह देते थे कि भई, मैं आपकी चिकित्सा करने में असमर्थ हूँ। जब मैं रोग का निदान ही सही नहीं कर पाया, तब ओषधि की जो व्यवस्था करूँगा, वह भी सही नहीं होगी। रोगी जब दखता कि वैद्यजी ने चिकित्सा करने से इनकार कर दिया, तो एकान्त में वह स्वीकार कर लेता कि आपने जो निदान किया है, वह ठीक है। और तब वे ओषधि देते। निदान का चिकित्सा में कितना महत्त्व है यह उसका एक प्रमाण है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में भी चिकित्सक रोगी के विभिन्न पदार्थों की जाँच करते हैं तथा उसके माध्यम से रोग का पता लगाने की चेष्टा करत हैं। और विलक्षणता यह है कि अगर जाँच में कोई कीटाणु पकड़ में न आये, तो उससे चिकित्सक प्रसन्न नहीं होता; क्योंकि वह मानता है कि व्यक्ति अगर अस्वस्थ है, तो उसके भीतर रोग के कीटाणु विद्य-मान होने ही चाहिए। कीटाणुओं का पकड़ में न आना जाँच में कमी का परिचायक है, उनके अभाव का परिचायक नहीं। और जब चिकित्सक को रोग के कीटाणु प्राप्त हो जाते हैं, तो उसे प्रसन्नता इस अर्थ में होती है कि उसके लिए चिकित्सा का मार्ग खुल गया।

अतः प्राचीन और आधुनिक दोनों चिकित्सा-विज्ञानों में निदान को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। निदान में रोग का पकड़ में आ जाना कल्याण का प्रथम सोपान है। यह बात मानस-रोगों पर भी लागू होती है। मानस-रोग का वर्णन सुनकर बहुधा जो श्रोता मुझसे मिलने के लिए आते हैं, वे बड़े घबराये-घबराये से रहते हैं। वे मुझसे आग्रह करते हैं कि आप केवल रोग का वर्णन ही न करें, बल्कि उसकी दवा भी बताते चलें। पर मैं तो जिस पद्धति से इस प्रसंग में रोगों का वर्णन किया गया है, उसी के अनुरूप आपके सामने बात रख रहा हूँ। हम लोग पहले रोग का निदान ठीक कर लें, सही सही अर्थों में यह समझ लें कि हमारे जीवन में कौन सी समस्या है तथा यह जान लें कि मन में जो रोग विद्यमान हैं, वे कैसे उदित होते हैं एवं उनकी प्रक्रिया कैसी है। 'रामचरितमानस' में रोगों का वर्णन करके केवल डराया ही नहीं गया है, उसमें रोगों के विस्तृत वर्णन के बाद फिर ऐसी ओषधि की व्यवस्था भी दी गयी है, जिसके द्वारा व्यक्ति इन मानस-रोगों से मुक्त हो सके। यह एक विस्तृत प्रसंग है और आदरणीय स्वामीजी महाराज की आज्ञा है कि मैं इसका विश्लेषण संक्षेप में न कर विस्तार से ही करूं। यद्यपि मैं अन्तिम दिन तक निदान का ही पूरी तरह वर्णन नहीं कर पाऊँगा, क्योंकि वह एक बड़ा विस्तृत प्रसंग है, तथापि ओषधि की थोड़ी बात भी कह दूंगा, जिससे लोगों के मन में एक आशा बँधे।

वैद्य नाड़ी के माध्यम से देखता है कि व्यक्ति

के शरीर में पित्त, कफ अथवा वात में से कौन सी नाड़ी कुपित है। आयुर्वेदशास्त्र में नियम यह है कि उसमें रोगों की नहीं, रोगी की चिकित्सा की जाती है। इसका अर्थ यह है कि रोग की चिकित्सा करने से पहले रोगी की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। 'रामचरितमानस' में भी आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति की जो चिकित्सा की गयी है, उसमें इसी पद्धति का पालन किया गया है। वैद्य पहले देखते हैं कि व्यक्ति की प्रकृति कौन सी है--वात की है अथवा पित्त की या कफ की, और उस पर ध्यान रख वे दवा देते हैं। ठीक इसी प्रकार मानवीय प्रकृति में भी विभिन्न प्रकार के दोष हैं। पर विभिन्न दोषों के होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में किसी न किसी दोष की मुख्यता होती है। कई व्यक्तियों को क्रोध बहुत आता है; कइयों को क्रोध नहीं आता, पर उनके जीवन में कामवासना की प्रधानता दिखाई देती है; फिर कइयों के जीवन में लोभ अत्यन्त उग्र मात्रा में रहता है। इस प्रकार 'मानस' की दृष्टि से व्यक्ति का विभाजन मूलतः तीन तरह से किया गया है। इन तीन प्रकार के व्यक्तियों में प्रकृति के विकृत होने पर अलग अलग मानसिक रोगों का जन्म होता है। इसलिए यदि हम व्यक्ति की प्रकृति को पहले समझ लें, तो चिकित्सा सरल हो सकती है।

यह 'रामचरितमानस' क्या है? चिकित्सा के सन्दर्भ में यदि हम देखें, तो इसमें विभिन्न रोगियों का वर्णन किया गया है। उन रोगियों में कुछ ऐसे हैं, जो स्वस्थ हो जाते हैं और कुछ ऐसे भी हैं, जो स्वस्थ नहीं हो पाते। इन रोगियों के दृष्टान्तों के माध्यम से मानो यह बताया

गया है कि किस प्रकार के व्यक्ति स्वस्थ होते हैं तथा किस प्रकार के रोगियों की अस्वस्थता दूर नहीं होती। जैसे सती हैं। उनके चरित्र में एक रोग उत्पन्न हो होता हैं और वह इस सीमा तक पहुँच जाता है कि उन्हें शरीर का परित्याग करना पड़ता है। पीलिया एक रोग है, जिससे नेत्रों में पीलापन आ जाता है। जब यह रोग बहुत बढ़ जाता है, तब व्यक्ति को सारी वस्तुएँ पीली दिखाई देने लगती हैं। वस्तु तो ज्यों की त्यों होती है, पर आँखों का रंग बदल जाने से वस्तु भी बदली हुई दिखाई देती है। तो, सती के जीवन में ऐसे ही मानसिक पीलिया का जन्म होता है। वे वन में भगवान् श्रीराम को सीता के वियोग में विलाप करते हुए देखती हैं और जब भगवान् शंकर उन्हें ईश्वर और सच्चिदानन्द कहकर दूर से प्रणाम करते हैं, तो वे चकित हो जाती हैं, क्योंकि श्रीराम उन्हें अत्यन्त साधारण व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, उनमें उन्हें ईश्वरत्व का कोई चिह्न दिखाई नहीं पड़ता। भगवान् शंकर चाहते हैं कि सती का यह रोग किसी प्रकार से दूर हो। पर उनके-जैसे कुशल चिकित्सक के होने पर भी सती का रोग इस जन्म में दूर नहीं होता। वह दूर होता है पार्वती के रूप में नया जन्म प्राप्त करने के बाद। तब भगवान् शंकर ने पार्वती-जी से कहा था, "पार्वती, पूर्व-जन्म में तुम मेरी ही प्रिया थीं। तुम्हारी जो समस्या थी, वह किसी वस्तु की नहीं, तुम्हारी दृष्टि की थी--

नयन दोष जा कहँ जब होई।
पीत बरन ससि कहुँ कह सोई।। ७।७२।३

—जब किसी व्यक्ति के नेत्रों में दोष आ जाता है, तब उसे चन्द्रमा पीले रंग का प्रतीत होता है। इसी प्रकार श्रीरामचन्द्र में तुम्हें जिस प्रकार दोषों का दर्शन हो रहा था, उसका तात्पर्य यही था कि तुम्हारी दृष्टि में विभ्रम आ गया था।" पर जब पार्वती सती थीं, तब उनका यह रोग दूर नहीं हुआ। ऐसा क्यों? इसलिए कि रोग की चिकित्सा के लिए सबसे आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति अपने रोग का अनुभव करे और वैद्य के सामने निष्कपट भाव से अपने रोग को स्वीकारे। सती भगवान् शंकर की प्रिय पत्नी हैं और भगवान् शंकर आध्यात्मिक दृष्टि से वैद्य हैं। जैसे शरीर के रोगों को वैद्य दूर करता है, उसी प्रकार मन के रोगों को गुरु दूर करता है। अन्य गुरु तो कुछ लोगों के ही गुरु होते हैं, पर भगवान् शंकर के बारे में कहा गया है कि वे त्रिभुवन-गुरु हैं—

तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना।
आन जीव पाँवर का जाना॥ १।११०।५

इसका अभिप्राय क्या? भले ही सती संसार के सर्वश्रेष्ठ गुरु की पत्नी थीं, पर बहुत से बड़े गुरु के शिष्य हो जाने से ही रोग दूर नहीं हो जाता। सतीजी के सन्दर्भ में तो यह बड़े पते की बात है। वे अप रोग को छिपाना चाहती हैं। भगवान् शंकर जैसे वैद्य ने यह बताने की चेष्टा की कि तुम्हें रोग हो गया है। जिस समय सती के मन में संशय का रोग उत्पन्न हुआ, तो उनके लिए वैद्य ढूंढ़ने कहीं जाने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि शंकरजी-जैसे

भवरोग के वैद्य वहीं विद्यमान थे। जब गरुड़ अस्वस्थ हुए थे, तब वैद्य ढूँढ़ने के लिए उन्हें कितनी यात्रा करनी पड़ी थी, इसका वर्णन उत्तरकाण्ड में मिलता है। न जाने कितने वैद्यों के पास वे भटके। गरुड़ की समस्या यह थी कि जिस वैद्य के पास वे जाते, वह उन्हें दूसरे वैद्य के पास जाने की सलाह देता। गरुड़ भी भ्रमरोग से ग्रसित हुए थे। जब वे प्रथम वैद्य नारद के पास पहुँचे, तो उन्होंने कहा, "भई, इस रोग की चिकित्सा मुझसे अच्छी तो ब्रह्मा कर सकेंगे।" और जब वे ब्रह्माजी के पास पहुँचे, तो उन्होंने कहा, "बैनतय संकर पहिं जाहू (७।५९।७) —सबसे बड़े वैद्य तो शंकरजी हैं। उनके पास जाओ।" और वे बेचारे एक वैद्य से दूसर के पास, दूसर से तीसर के पास भागते रहे। जब वे तीसरे महावैद्य शंकरजी के पास गये, तो उन्होंने कहा, "यदि तुम स्वस्थ होना चाहते हो, तो कौए के पास जाओ।" अब नारद, ब्रह्मा और शंकरजी तो बड़े वैद्य थे, उनकी तुलना में काकभुशुण्डि अत्यन्त सामान्य थे। तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति को बहुत बड़ा गुरु, बहुत बड़े महापुरुष प्राप्त हो जाएँ तो मात्र उससे उसकी समस्या का समाधान नहीं हो जाता। उसके लिए यह जानना आवश्यक होता है कि स्वयं रोगी की स्थिति क्या है और किस प्रकार के वैद्य से उसे लाभ होगा। इसीलिए भगवान् शंकर ठीक से निदान करके गरुड़जी को उचित वैद्य के पास भेजते हैं और तब कहीं उनका रोग दूर होता है।

सतीजी का सौभाग्य यह था कि उन्हें वैद्य

ढूँढ़ने कहीं अन्यत्र नहीं जाना था। वैद्य तो उनके साथ ही चल रहे थे। लेकिन संसार में, विशेषकर मानसिक रोगियों में, अपने रोग को छिपाने की जो प्रवृत्ति बहुधा देखी जाती है, सतीजी उससे ग्रस्त हैं। वे भगवान् शंकर से न तो अपने सन्देह का वर्णन करती हैं, न ही अपने मोह तथा भ्रम का। वे चुपचाप शंकरजी के साथ चलती रहीं। भगवान् शंकर ने उन्हें थोड़ा फटकारा भी। उन्होंने सांकेतिक भाषा में कहा—"सती, तुम अपनी प्रकृति का सदुपयोग नहीं कर रही हो।" नारी की प्रकृति क्या है ? वह बड़ा कष्ट उठाकर बालक को नौ-दस महीने तक गर्भ में धारण करती है, उसे पुष्ट करती है, तब फिर बालक का जन्म होता है। भगवान् शंकर का तात्पर्य यह था कि सती, नारी के लिए शिशु का उदर में धारण करना तो कल्याणकारी है, पर तुम जिसे हृदय में धर रही हो, वह अकल्याणकारक है। वे कहते हैं—

सुनहि सती तव नारि सुभाऊ।
संसय अस न धरिअ उर काऊ ॥ १।५०।६

—संशय को मत पालो। पेट में जैसे बच्चे को पालते हैं, उसी प्रकार संशय को भीतर पालते रहना और यह सोचना कि जब यह बढ़कर खूब पुष्ट हो जाय तब इसे जन्म देंगे, अनर्थकारी होगा। इसे तो प्रारम्भ में ही विनष्ट कर देना होगा। भगवान् शंकर और भी आगे समझाते हैं—

जासु कथा कुंभज रिषि गाई।
भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई ॥

सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा ।
सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ।। १।५०।७-८

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहिं ध्यावहीं ।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ।।
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी ।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी ।।

—जिनकी कथा का महर्षि अगस्त्य ने गान किया और जिनकी भक्ति मैंने मुनि को सुनायी, ये वही मेरे इष्टदेव रघुवीर हैं, जिनकी सेवा ज्ञानी मुनि सदा किया करते हैं। ज्ञानी, मुनि, योगी और सिद्ध निरन्तर निर्मल चित्त से जिनका ध्यान करते हैं तथा वेद, पुराण और शास्त्र 'नेति-नेति' कहकर जिनकी कीर्ति गाते हैं, उन्हीं सर्वव्यापक, समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी, मायापति, नित्य परम स्वतन्त्र ब्रह्मरूप भगवान् श्रीराम ने अपने भक्तों के हित के लिए रघुकुल के मणिरूप में अवतार लिया है।

यद्यपि शंकरजी ने सती को बहुत बार समझाया, फिर भी सतीजी के हृदय में उनका उपदेश नहीं बैठा। ऐसा क्यों? भगवान् राम ने शरणागति के सन्दर्भ में कहा था कि व्यक्ति कैसा भी रोगी क्यों न हो, वह अवश्य स्वस्थ हो जायगा, पर रोग को दूर करने के लिए उसे कम से कम चार वस्तुओं को छोड़ना पड़ेगा। वे कहते हैं—

जौं नर होइ चराचर द्रोही ।
आवै सभय सरन तकि मोही ।।
तजि मद मोह कपट छल नाना । ५।४७।२-३

—मेरी शरण में आने के पहले व्यक्ति को मद,

मोह, कपट और छल छोड़ देना चाहिए। वैद्य के पास जाने की प्रक्रिया भी यही है। वैद्य के पास अगर व्यक्ति मद को लेकर जाय, यह सोचे कि मैं वैद्य की तुलना में अधिक योग्य हूँ, तब तो वैद्य की दी हुई ओषधि और पथ्य पर उसका विश्वास ही नहीं होगा। इसलिए उसको पहले मद छोड़ना होगा। मान लिया कि उसमें मद नहीं है, पर यदि वह वैद्य के वचनों को सुनकर भी अपनी इच्छा के अनुकूल आचरण करने लगे, तो वह मोह की स्थिति होगी। अतः मोह लेकर वैद्य के पास जाने से भी कोई लाभ नहीं है। फिर यदि वैद्य के पास पहुँचकर रोगी उसे अपने रोगों के विषय में भ्रान्ति में रखना चाहे, उससे छल-कपट करना चाहे, तो इससे वह स्वयं ठगा जायगा। इस प्रकार भगवान् राम शरणागति के सन्दर्भ में जो बात कहते हैं, वह वैद्य के सन्दर्भ में भी सही है। यदि हम ईश्वर की शरण में जायँ, तो हममें चाहे कितने भी दोष विद्यमान क्यों न हों, यदि हम मद, मोह, छल और कपट छोड़ उनसे दोषमुक्त करने की प्रार्थना करें, तो वे अवश्य हम पर कृपा करेंगे और हमें दोषों से मुक्त कर देंगे। इसी प्रकार यदि हम वैद्य के पास भी मद, मोह, छल और कपट का त्याग करके जायँ, तो उसकी चिकित्सा से हम अवश्य रोग-मुक्त होंगे। यहाँ सतीजी की चिकित्सा में विलम्ब इसलिए हो रहा है कि वे इन दोषों से मुक्त नहीं हैं। पहले तो रोगी को मद छोड़ना चाहिए। पर शंकरजी के बहुत समझाने पर भी वे सोचती हैं कि भले ही शंकरजी बहुत बड़े महा-

पुरुष हैं, पर मैं भी तो दक्ष की बेटी हूँ, किसी सामान्य बुद्धिमान् व्यक्ति की बेटी नहीं हूँ, जो इनकी बात को बिना सोचे-समझ मान लूँ। तात्पर्य यह कि वे बुद्धिमत्ता का मद नहीं छोड़ पाती हैं। तब भगवान् शंकर ने थोड़ी सी और चिकित्सा बता दी । उन्होंने कहा—

जौं तुम्हरें मन अति संदेहू (१।५१।१)

—यदि मेरी दवा से भी सन्देह-रोग दूर नहीं हो रहा है, तो तुम एक काम करो–'तौ किन जाइ परीछा लेहू'—तुम स्वयं जाकर अपनी दृष्टि से भगवान् राम को देखने की चेष्टा करो। मगर जब सती जाने लगीं, तो भगवान् शंकर ने सावधान कर दिया—

जैसें जाइ मोह भ्रम भारी ।
करेहु सो जतनु बिबेक बिचारी ।। १।५१।३

—देखो, विवेकशून्य होकर परीक्षा मत लेना, अच्छी तरह सोच-विचारकर जाना । पर सतीजी वही लेकर गयीं, जिसे उन्हें छोड़ देना था।

फिर भगवान् कहते हैं—कपट छोड़कर आओ। पर सतीजी ने क्या किया ?—

पुनि पुनि हृदयँ बिचारु करि धरि सीता कर रूप । १।५२

—उन्होंने सीताजी का नकली रूप बना लिया। सीताजी मूर्तिमती भक्ति हैं । भक्ति के माध्यम से ही भगवान् को जाना जाता है, पर कोई यदि नकली भक्ति का सहारा ले, तो उसे क्या भगवान् मिलेंगे ? यह तो उसके लिए और भी घातक होगा। सती यदि सती के रूप में भगवान् राम के समक्ष जातीं,

तो समस्या उतनी नहीं होती। यदि हममें भक्ति का अभाव है, तो उसे स्वीकार करना कल्याणकारी है। पर वसा न कर नकली भक्त बनकर ईश्वर को ठगन की चष्टा करना अविवेक की पराकाष्ठा है। लकिन सतीजी वही करती हैं। वे न मद छोड़ पायीं, न मोह, न कष्ट और न छल ही। गोस्वामीजी लिखत हैं——

पुनि पुनि हृदयँ बिचारु करि धरि सीता कर रूप।
आगें होइ चलि पंथ तेहिं जेहिं आवत नर भूप॥ १।५२

——वे सीताजी का रूप धारण कर उसी मार्ग में आगे चलने लगीं, जिससे भगवान् राम चले आ रहे थे। फलतः नकली भक्ति में जैसा होता है वही हुआ। लक्ष्मणजी ने देखा और वे समझ गये कि वेश तो सीताजी का बना है, परन्तु स्वभाव नहीं बन पाया। भक्त का बाना बनाना तो सरल है, परन्तु भक्त का शील लाना बड़ा कठिन है। वे समझ गये कि ये तो नकली सीता हैं, असली सीता तो सदैव श्रीराम के पीछे चलती हैं, आगे नहीं। असली भक्ति ईश्वर के पीछे ही चलती है, ईश्वर की इच्छा के अनुकूल ही अनुगमन करती है। जहाँ मिथ्या भक्ति है, वहाँ इसी प्रकार का दिखावा होता है। भगवान् राम ने जब सतीजी को सीता के वेश में देखा, तो उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया——

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू (१।५२।७)।

इसमें बहिरंग दृष्टि से तात्पर्य था उनके प्रति सम्मान प्रकट करना, और अन्तरंग दृष्टि से यह कि भले ही वे मद और अहंकार के वशीभूत हो सीताजी का रूप

धरकर आयी हैं, पर जब वे परीक्षा लेने की दृष्टि से आयी हैं, तब परीक्षक को प्रणाम करना ही उचित है। इसीलिए प्रभु ने उन्हें प्रणाम किया और कहा— मैं, दशरथ का बेटा राम, आपको प्रणाम करता हूँ—

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू।
पिता समेत लीन्ह निज नामू ।। १।५२।७

साथ ही प्रभु रोगिणी को उस अच्छे वैद्य की याद दिला देते हैं, जिसे छोड़कर वह भटक रही थी; कहते हैं—

कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू।
बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू ।। १।५२।८

—देवी, शंकरजी कहाँ हैं? आप अकेली वन में कहाँ भटक रही हैं? भगवान् राम के वचनों को सुन सती संकोच से गड़ जाती हैं कि सारा भेद खुल गया। वे चुपचाप शंकरजी के पास लौट आती हैं। फिर भी उनका रोग ठीक नहीं हो पाता है, क्योंकि रोग के ठीक होने की शर्त यह है कि रोगी वैद्य से झूठ न बोले। और यहाँ जब शंकरजी ने सती से पूछा—

लीन्ह परीछा कवन बिधि कहहु सत्य सब बात (१।५५)

—सही सही बताओ तुमने किस प्रकार परीक्षा ली, तो सतीजी ने तुरन्त कहा—

कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं।
कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं ।। १।५५।१

—मैंने कोई परीक्षा नहीं ली। आपने जरा दूर से प्रणाम किया था, मैं जाकर पास से प्रणाम कर

आयी ।

इस प्रकार वे मिथ्या भाषण करती हैं। अगर रोग बढ़ा हुआ हो तो वैद्य को बताना चाहिए कि वैद्यजी, मेरा रोग बढ़ गया है । पर ऐसा न कर यदि व्यक्ति यह दिखाने की चेष्टा करे कि मैं स्वस्थ हूँ, तो उससे उसके सुधार की आशा नहीं रह जाती। सती के जीवन में यही हुआ। भगवान् शंकर के द्वारा सती के परित्याग का तात्पर्य यह था कि तुम जब अपने रोग को छिपाना चाहती हो, अपनी चिकित्सा के प्रति उदासीन हो, तो ऐसे रोगी का वैद्य के पास रहने से क्या लाभ ? इसीलिए भगवान् शंकर उनका परित्याग करते हैं। फिर अगले जन्म में सतीजी पार्वती बनकर पुनः भगवान् शंकर के चरणों में आती हैं और कहती हैं कि प्रभो, मैंने रोग का दण्ड पूरी तरह पा लिया है, अब मेरे अन्दर पहले जैसा विमोह नहीं रहा, पर लगता है संशय का बीज किसी न किसी रूप में विद्यमान है ही; आप मेरे इस रोग की चिकित्सा करें। और तब भगवान् शंकर उनके संशयों का नाश करते हैं और वे पार्वती के रूप में पूर्ण स्वस्थ हो जाती हैं।

इसी तरह 'रामचरितमानस' में और भी कई पात्र हैं, जो रोगग्रस्त हैं। देवर्षि नारद की चर्चा चल रही थी । काम को जीतने के बाद नारदजी में इतने रोग आ जाते हैं कि पढ़कर आश्चर्य होता है। ऐसा लगता है कि संसार का कोई ऐसा विकार नहीं है, जो नारद के जीवन में न आया हो। लेकिन नारदजी स्वस्थ हो जाते हैं। जब नारदजी के मन

में विश्वमोहिनी को देख विवाह करने की वासना जाग्रत् हुई, तो उन्हें लगा कि विश्वमोहिनी तो उसी का वरण करेगी, जो संसार में सबसे सुन्दर हो। अब मैं ऐसी सुन्दरता कहाँ से पाऊँ? और उन्होंने निश्चय किया——

हरि सन मागौं सुंदरताई।
होइहि जात गहरु अति भाई ।।१/१३१/१

——मैं भगवान् से उनकी सुन्दरता मागूँगा। पर क्षीर-सागर बहुत दूर है, वहाँ जाने में तो बहुत समय लगेगा। भगवान् कैसे जल्दी मिलें? पर नारदजी को क्षीरसागर नहीं जाना पड़ा। उनके मन में जो बात आयी, उस पर भगवान् रीझ गये और उनके पास तुरन्त आ गये। कोई कह सकता है कि सुन्दरता पाने के लिए नारदजी को भगवान् के ही पास जाने की आवश्यकता क्यों पड़ी? और भी तो ऐसे सुन्दर लोग विद्यमान थे, जिनसे उन्हें सुन्दरता प्राप्त हो सकती थी। श्रीराम के समान ही सुन्दर व्यक्ति से——काम से—— उनकी भेंट हो चुकी थी। राम और काम में इतनी समानता है कि बहुधा लोग काम को राम के ही धोखे में स्वीकार कर लेते हैं। यह वैसा ही है, जैसे व्यक्ति नकली सिक्के को असली समझकर ले लेता है और ठगा जाता है। नकली सिक्का बनानेवाला इस बात का ध्यान रखता है कि सिक्का ऐसा बनाया जाय कि देखने में बिल्कुल असली सिक्के-जैसा हो। स्वाभाविक है कि असली सिक्का पूरे दाम में मिलेगा और नकली, कम दाम में।। काम भी कहता है कि सृष्टि का मूल-कारण तो मैं हूँ। व्यक्ति ईश्वर को सुख के लिए पाना

चाहता है और काम व्यक्ति के सामने दावा करता है कि मैं तुम्हें सुख दे सकता हूँ। साहित्य में काम का जो वर्णन किया गया है, वह राम से ठीक मिलता-जुलता है। जैसे राम परम सुन्दर हैं, वैसे ही काम को भी परम सुन्दर बताया गया है। राम धनुषबाणधारी हैं, तो काम भी वैसा है। फिर दोनों का रंग भी साँवला है। शंकरजी ने काम को जला दिया। उनका तात्पर्य था—तुम राम के स्थान पर आ जाते हो, इसलिए साधक के लिए सबसे अधिक घातक तुम्हीं हो। अतएव तुम्हें तो मिटा ही देना चाहिए। जब संसार में कोई मूल्यवान् बढ़िया वस्तु बनती है, तो उसके अनुरूप नाम से नकली वस्तु भी बाजार में बिकने को आ जाती है। तब असली वस्तु बनानेवाले 'नक्कालों से सावधान' का विज्ञापन देकर लोगों को सावधान कर देते हैं। सबसे बड़ा खतरा यही है कि असली के धोखे में कहीं नकली वस्तु न खरीद ली जाय। शंकरजी का यही संकेत है। राम और काम में ऐसी कुछ समानता है कि व्यक्ति सुख पाने के लिए काम का वरण कर लेता है। काम उसे सस्ते में सुख दिलाने का दावा करता है, और साधक के मन में सरल और छोटे मार्ग से सुख पाने की इच्छा जाग्रत् हो जाती है। इसका सांकेतिक तात्पर्य क्या ? यह कि व्यक्ति में मिलन की तीव्र आकांक्षा होती है, क्योंकि अंश का स्वभाव है पूर्ण को पाना। जीव की सहज प्रवृत्ति है कि वह पूर्ण से मिलना चाहता है। पर काम इस मिलन की आकांक्षा को बीच में दूसरी दिशा में मोड़कर यह दिखाने की चेष्टा करता है कि तुम्हारी मिलन की आकांक्षा को हम इसी

मृत्यु-लोक में पूरा कर दे सकते हैं। काम का सारा मनोविज्ञान इतना अनोखा है कि व्यक्ति धोखे में आ जाता है। शंकरजी द्वारा काम को जला देने का तात्पर्य यह है कि कम से कम इतना भेद तो रहे कि राम रूपवाले हैं तो काम बिना शरीरवाला रहे, जिससे साधक दोनों का अन्तर समझ सके। इतना अन्तर डालकर उन्होंने काम को जीवित कर दिया और कहा कि तू अनंग होकर जीवित रह। ये नकली वस्तु बनानेवाले लोग नाम भी बिल्कुल मिलता-जुलता रखते हैं। दख लीजिए न, राम और काम ये दोनों नाम भी कितने समान हैं। अक्षरों में भी र और क का ही भद है!

तो, नारदजी को यदि सौन्दर्य की आवश्यकता थी, तो वे काम से ही सौन्दर्य माँग सकते थे, क्योंकि काम भगवान् राम के समान ही सुन्दर है। फिर काम को पाने के लिए नारदजी को बहुत दूर जाने की आवश्यकता भी नहीं थी। तीसरे, काम उनका बड़ा कृतज्ञ था, क्योंकि कुछ ही समय पहले उन्होंने काम को जीता था। काम ने उनके चरणों में गिरकर क्षमा-याचना कर ली थी। पर नारदजी ने निर्णय लिया कि काम से नहीं, भगवान् राम से सुन्दरता मागूँगा, क्योंकि—

मोरें हित हरि सम नहिं कोऊ।१/१३१/१

—मेरा हितैषी भगवान् से बढ़कर कोई नहीं है। भगवान् ने जब यह सुना, तो वे गद्‌गद हो गये। उन्होंने कहा—नारद, तुम इतने बड़े रोगी होकर भी रोग की पहिचान तुम्हें ठीक बनी हुई है, तुम्हारी आँखें ठीक-ठीक देख रही हैं। और तब नारद को कहीं

जाना नहीं पड़ा। भगवान् स्वयं आकर प्रकट हो गये। उन्होंने नारद से पूछा—कहिए आपने कैसे स्मरण किया? नारद का रोग तो बढ़ा हुआ था। बड़ी विचित्र बात उन्होंने कह दी—

आपन रूप देहु प्रभु मोही।
आन भाँति नहिं पावौं ओही॥ १/१३१/६

—महाराज, आप अपनी सुन्दरता मुझे दे दीजिए, जिससे विश्वमोहिनी से मेरा विवाह हो जाय। भगवान् ने तुरन्त उत्तर दिया—

कुपथ माग रुज ब्याकुल रोगी।
बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥ १/१३२/१

—मुनिवर, यदि रोगी वैद्य से कुपथ्य माँगे, तो वैद्य उसे देता नहीं है। रोगी हैं नारद और वैद्य हैं भगवान्। वैद्य से कुपथ्य माँगा जा रहा है, पर भगवान् प्रसन्न हैं। यह मानवीय प्रवृत्ति है कि जब मन में कोई बुरी इच्छा आती है, तो उसे पूरा करने के लिए मनुष्य किसी भले व्यक्ति के पास नहीं जाता। उसे संकोच होता है कि किसी भले व्यक्ति के सामने हम अपनी बुरी इच्छा कैसे कहें। इसलिए वह किसी बुरे व्यक्ति को ढूँढ़ता है और उससे अपनी बुरी इच्छा को पूरा करने का सहयोग चाहता है। आप घर में भी देखते होंगे कि कई बार रोगी बेचारे पथ्य करते-करते ऊब जाते हैं। वे किसी छोटे बच्चे से धीरे से कह देते हैं कि भई, हमें अमुक वस्तु ला दो, हम तुम्हें पैसा देंगे। और नासमझ बच्चा उनके कहने पर कुपथ्य ला देता है। इससे रोग और भी बढ़ जाता है। भगवान् ने नारद से कहा—नारद, कहाँ वैद्य से माँगनी चाहिए

दवा और तुम माँग रहे हो कुपथ्य। वद्य से कुपथ्य माँगना एक दृष्टि से इसलिए अच्छा है कि जब वह रोगी में कुपथ्य की तीव्र इच्छा देखेगा, तो वह कुपथ्य तो देगा ही नहीं, बल्कि पूरे घर को सावधान कर देगा कि आजकल इसका मन अमुक वस्तु की ओर जा रहा है, अतः भूलकर भी इसको यह वस्तु न मिलने पावे। भगवान् का तात्पर्य था कि नारद, तुमने अच्छा किया जो मुझसे कुपथ्य माँगा, पर मैं तुमको कुपथ्य नहीं मिलने दूंगा। किन्तु नारद का रोग इतना बढ़ा हुआ था कि उनके कान कुछ बहरे हो गये थे, मन भी बदला हुआ था, इसलिए भगवान् का वाक्य सुनकर भी उसमें निहित अर्थ को वे समझ नहीं पाये। और अन्त में उनका क्रोध भी प्रकट हो गया। जब उनमें काम आया था, तो वे राम के पास गये थे और जब क्रोध आया तो——

फरकत अधर कोप मन माहीं।
सपदि चले कमलापति पाहीं।। १/१३५/२

——फड़कते अधर लेकर भगवान् कमलापति के पास चले। लेकिन नारदजी में यही विशेषता है कि रोग के इतना बढ़ने के पश्चात् भी उनके मन की सरलता, निश्छलता नष्ट नहीं हुई; उन्होंने भगवान् से कुछ न छिपाया; जो उनके मन में था, वह भगवान् के पास प्रकट कर दिया; उनका भगवान् के प्रति समर्पण का भाव कभी मिटा नहीं। परिणाम यह होता है कि नारद को भगवान् स्वस्थ बना देते हैं और इतने रोगों से ग्रस्त नारद समस्त रोगों से मुक्ति पा जाते हैं। (क्रमशः)

○

# मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

## (१) गुरु बिन ज्ञान न पावै कोई

घटना सिक्ख गुरु अमरदासजी के गुरु बनने से पहले की है। तब उनकी उम्र ७२ वर्ष की थी। एक बार उनके यहाँ एक मेहमान आया। रात्रि को सोते समय उसने पूछा, "गुरु से मिले कितना समय हुआ है?" "गुरु? मेरे तो कोई गुरु नहीं है," अमरदासजी ने जवाब दिया। "क्या तुम्हारे कोई गुरु नहीं है?"—पश्चात्तापयुक्त शब्दों में मेहमान ने पूछा। उसने आगे कहा, "तब तो तुम्हारा अब तक का जीवन व्यर्थ गया! मुझे अगर मालूम रहता कि तुम निगुरे हो, तो मैं यहाँ भोजन ही न करता!"—ऐसा कहते हुए उसने अपना सामान बटोरा और बिना विश्राम किये चलता बना।

अमरदासजी को बड़ा दुःख हुआ कि उन्हें बुढ़ापा आ गया और उनके मन में गुरु बनाने का कभी विचार ही न आया। इसी चिन्ता में उन्हें नींद न आयी। सुबह जब उठे तो उन्होंने अपने भाई की बहू बीबी अमरो को गुरुवाणी पढ़ते पाया। पढ़ना समाप्त होने पर उन्होंने उससे पूछा कि वह क्या पढ़ रही थी। उसने बताया कि वह गुरु नानक साहिब की बानी पढ़ रही थी, जिनकी गद्दी पर उसके पिताजी (अंगद साहिब) बैठे हैं।

अमरदासजी ने उससे कहा कि वह उनसे भेंट करा दे। बीबी अमरो ने कहा, "पिताजी को जब किसी से मिलना हो, तो वे स्वयं उसे बुलाते हैं। इसलिए आपसे भेंट नहीं हो सकेगी।" किन्तु अमर-

दासजी तो उनसे मिलने के लिए बेचैन हो गये थे, बोले, "यदि तू भेंट करा देगी और वे नाराज होंगे, तो मुझ पर होंगे, तुझ पर नहीं! मैं उन्हें मना लूँगा।"

आखिर मजबूर होकर वह उन्हें गुरु साहिब के पास ले गयी। उन्हें बाहर खड़ा करके जब वह अन्दर गयी, तो अंगद साहिब ने उससे कहा, "जिन्हें साथ में लायी है, उन्हें अन्दर क्यों नहीं लायी?" अन्दर ले जाने पर उन्हें गुरु साहिब ने गुरुमंत्र क्या दिया, रूहानी दौलत से उन्हें मालामाल कर दिया, और आगे चलकर उनकी गद्दी के वे ही अधिकारी बने।

**(२) अहिंसा परमो धर्मः**

अर्जुनमाली नामक एक व्यक्ति यक्ष का उपासक था। एक दिन उसके घर कुछ डाकू आये। उन्होंने अर्जुन को रस्सी से बाँधा और उसकी सारी धन-सम्पत्ति लूट ली। वे वापस लौटने ही वाले थे कि उनकी दृष्टि अर्जुनमाली की पत्नी पर पड़ी। वे उससे दुर्व्यवहार करने लगे। यह देख अर्जुनमाली को क्रोध आ गया। अकस्मात् उसमें यक्ष का संचार हो गया और इस आवेश में उसने अपने सारे बन्धन तोड़ डाले। समीप का मुद्गर उठाकर उसने डाकुओं पर प्रहार कर उन्हें भगा दिया। मगर यक्षावेश इतना तीव्र था कि अर्जुनमाली को कर्तव्याकर्तव्य का ध्यान न रहा। वह सड़क पर आया और जो सामने दिखाई देता, उसी पर मुद्गर से प्रहार करने लगा। लोग इतने भयभीत हो गये कि उनका सड़क पर निकलना बन्द हो गया।

समीप के राजगृह में तीर्थंकर महावीर का शुभा-

गमन हुआ था। उनका प्रवचन सुनने के लिए लोगों की भीड़ उमड़ पड़ती थी, लेकिन जब उन्हें अर्जुन-माली के प्रहार करने की बात मालूम हुई, तो वे घर से बाहर नहीं निकल सकते थे। मगर सुदर्शन सेठ ने इसकी परवाह न की। वह जब प्रवचन के लिए जाने की तैयारी करने लगा, तो सेवकों ने उसे जाने से मना किया, किन्तु वह न माना और निकल पड़ा। जब अर्जुनमाली ने उस पर प्रहार करने के लिए हाथ उठाना चाहा, तो हाथ ऊपर उठ न सका, क्योंकि अहिंसक सेठ को देखते ही यक्ष का आवेश शान्त हो गया। वह अर्जुन को लेकर प्रवचन को गया। वहाँ तीर्थंकर की पवित्र वाणी का उस पर इतना असर पड़ा कि उसने उसी समय उनकी दीक्षा ग्रहण कर ली। उन्होंने उसे अहिंसा का उपदेश दिया और प्रतिकार न करने पर जोर दिया।

वापसी में जब अर्जुनमाली घर लौटने लगा, तो उसे निहत्था जान लोगों ने बदला लेने की सोची। उन्होंने पत्थर फेंक-फेंककर उसे लहूलुहान कर दिया। लेकिन वह अब बिलकुल शान्त था। उसने उनका जरा भी प्रतिकार नहीं किया। अन्त में लोग उसके इस व्यवहार से बड़े प्रभावित हुए और उससे क्षमा माँगी।

### (३) जिनके कपट दंभ नहिं माया

रामेश्वर भट्ट नामक एक ब्राह्मण सन्त तुकाराम से इतना द्वेष करता था कि एक दिन उसने उनकी सारी वहियाँ, जिनमें उन्होंने ओवियों, पद आदि का लेखन किया था, इन्द्रायणी नदी में डुबो दीं। इससे

तुकाराम महाराज को इतना दुःख हुआ कि देहकर्मों को त्यागकर वे तेरह दिनों तक एक शिला पर पड़े रहे।

इधर अहंकार से ग्रस्त रामेश्वर भट्ट ने पूना जाने का निश्चय किया। वह जब जा रहा था, तो रास्ते में उसे एक झरना दिखाई दिया। स्नान करने के लिए वह जब वहाँ जाने लगा, तो समीप के दरगाह के औलिया ने उसे वहाँ जाने से मना किया, पर वह न माना। उसने जबरदस्ती स्नान किया, लेकिन जब वह बाहर आया, तो उसके शरीर में जलन होने लगी। वह इतनी असह्य थी कि शिष्य उसे गीले कपड़ों से ढक वापस ले जाने लगे। आलन्दी पहुँचने पर वे उसे ज्ञानेश्वर महाराज के पास ले आये। उनके सान्निध्य में रामेश्वर भट्ट को कुछ राहत महसूस हुई। ज्ञानेश्वर महाराज ने बताया कि तुकाराम महाराज को तंग करने का ही यह परिणाम है। इस बाधा को दूर करने का एक ही उपाय है—उनकी शरण जाकर उनसे क्षमा-याचना करना। उनके दर्शन मात्र से बाधा का परिहार हो जाएगा। इस सम्बन्ध में रामेश्वर भट्ट की उक्ति है—

ज्ञानेश्वर मज केला उपकार। स्वप्नी सविस्तर सांगितले।
तुका श्रेष्ठ प्रिय आम्हां थोर। का जो अवतार नामयाचा ॥
त्याची तुज काही घडली हे निंदा।
म्हणोनि हे बाधा झाली तुज।
आता एक करी सांगेन ते तुला।
शरण जाई त्याला निश्चयेसी ॥
दर्शनेचि तुझ्या दोषा परिहार। होय तो विचार सांगितला।
म्हणे रामेश्वर त्याच्या समागमे। झाले हे आराम देह माझे ॥

रामेश्वर भट्ट जब तुकारामजी के पास आया और उनके चरणों पर गिरकर क्षमा माँगी, तो वह यह देख चकित रह गया कि उसके द्वारा डुबोयी गयी बहियाँ तुकाराम महाराज के समीप ही पड़ी हुई हैं। बात यह थी कि स्वयं पाण्डुरंग भगवान् ने नदी में से वे बहियाँ निकालकर बालवेश में तुकाराम को दे दी थीं। तुकाराम महाराज लिखते हैं—

उदकीं राखिले कागद। चुकविला जनवाद।
तुका म्हणे ब्रीद। साच केले आपुले॥

तुकाराम ने जान लिया कि रामेश्वर भट्ट का हृदय पश्चात्ताप की अग्नि से जल रहा है। उन्होंने उपदेश देकर उसके अन्तर का अहंकार और कलुषित भाव दूर कर दिया।

**(४) सरल सुभाव न मन कुटिलाई**

महाकवि जयदेव यात्रा कर रहे थे कि एक राजा ने उनकी उपदेश-वाणी से प्रभावित हो उन्हें अच्छी रकम दान-दक्षिणा में दी। किन्तु रास्ते में एक स्थान पर कुछ डाकुओं ने सारी रकम छीन ली और पकड़े जाने के भय से उन्होंने महाकवि के हाथ-पैर काट डाले एवं उन्हें एक कुएँ में फेंक दिया।

दैववशात् वह कुआँ सूखा था। इससे सन्त को कोई चोट नहीं आयी। उन्होंने वहीं भजन गाना शुरू कर दिया। संयोग से राजा गन्धर्वसेन वहाँ से गुजरे, तो उन्हें कुएँ में से मधुर वाणी सुनाई दी। उन्होंने सन्त को बाहर निकलवाया और उन्हें राजधानी ले गये। उनकी विद्वत्ता से गन्धर्वसेन इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने जयदेव को अपनी पंचसभा का प्रधान नियुक्त

कर दिया ।

एक बार राजा ने एक उत्सव के अवसर पर भिक्षु-भोज का आयोजन किया। भोजन के लिए भिक्षुओं का ताँता उमड़ पड़ा। उन डाकुओं को जब बात पता चली, तो ब्राह्मण का भेष लेकर वे भी वहाँ उपस्थित हुए। लेकिन जब उन्हें सामने जयदेव दिखाई दिये, तो उनके प्राण सूख गये—काटो तो बदन में खून नहीं। जयदेव की भी उन पर दृष्टि पड़ी। उन्होंने राजा से कहकर ब्राह्मण-वेशधारी उन डाकुओं को कुछ अधिक धन दिलाया। राजा ने अधिक धन तो दिया ही, साथ ही सेवकों को उन्हें ससम्मान पहुँचाने का आदेश भी दिया ।

मार्ग में सेवकों ने डाकुओं से प्रधानजी के साथ उनके सम्बन्धों के बारे में पूछताछ की। तब उनके मुखिया ने झूठमूठ ही कह दिया कि "यह व्यक्ति महा-धूर्त है। यह भी पहले हमारे समान राजकर्मचारी था, लेकिन इसके द्वारा राजकोष की रकम का गबन करने के कारण राजा ने इसे मृत्युदण्ड की सजा दी। पर हमारी अनुनय-विनय से प्रभावित हो राजा ने इसके हाथ-पैर काटने का आदेश दिया। हमें देखते ही उसने पहचानकर हमारे उपकार के बदले में हमारा विशेष ख्याल करने के लिए कहा ।" मुखिया के ये शब्द समाप्त भी न हुए थे कि अकस्मात् धरती फट गयी और वे डाकू उसमें समा गये।

सेवकों ने वापस लौटकर जब राजा और जयदेव से सारी बात कही, तो जयदेव को सुनकर दुःख हुआ। वे बोले, "मैं उन्हें उनके पाप-कर्मों से लौटाना चाहता

था, लेकिन मैं इतना अभागा हूँ कि उनका कल्याण करने का सामर्थ्य भी मुझमें न रहा! अब तो भगवान् से यही प्रार्थना है कि वे उनके दोषों को क्षमा कर उन्हें सद्गति दें।" ये शब्द सुनते ही दरबारियों के मुख से 'धन्य' 'धन्य' की ध्वनि गूंज उठी।

**(५) निर्मल मन जन सो मोहि पावा**

हज़रत मूसा एक बार जंगल से कहीं जा रहे थ कि उन्हें एक गड़रिया दिखाई दिया। वह भगवान् से प्रार्थना कर रहा था—"ऐ खुदा! अगर मुझे तेरा दीदार हो जाए, तो मैं तेरी खूब सेवा करूँगा। तेरे शरीर की मालिश करूँगा, तुझे अच्छी तरह नहलाऊँगा, तेरे बालों की कंघी करूँगा, तेरे पाँव दबाऊँगा और तेरे लिए बिस्तर डलवाकर तुझे सुलाऊँगा। तू अगर बीमार पड़ेगा, तो तेरी खूब दवा-दारू करूँगा और तुझे चंगा करने में कोई कोर-कसर न छोड़ूंगा। मेरे अच्छे खुदा, मैं जिन्दगी भर तेरा गुलाम बनूंगा और तुझ पर अपनी जान न्यौछावर कर दूंगा।"

हज़रत ने यह सब सुना, तो उन्हें बुरा लगा। फिर भी उन्होंने पूछ ही डाला, "मूर्ख, तू यह किससे बात कर रहा था और किसकी सेवा करने की मन्शा जाहिर कर रहा था?"

"खुदा की। उन्हीं से मैं बात कर रहा था।"— भोले गड़रिये ने जवाब दिया।

"अरे बेवकूफ!" मूसा ने उसे डाँटते हुए कहा, "तू भी बड़ा अहमक है। अरे, खुदा कहीं बीमार पड़ता है? वह तो अशरीरी, अजन्मा है और सब जगह मौजूद रहता है। उसे भला तेरी सेवा की क्या जरूरत?"

गड़रिया बेचारा चुप रह गया। उसने हज़रत से माफी माँगी। लेकिन रात को जब मूसा प्रार्थना करने लगे, तो आवाज आयी, "मैंने तुझे लोगों का ध्यान मुझमें लगाने के लिए धरती पर भेजा था, लेकिन तू ऐसा न कर उन्हें मुझसे दूर करने में लगा है। तूने उस गड़रिये को मुझसे दूर ले जाना चाहा। यह तेरा एक बहुत बड़ा अपराध है। क्या तुझे मालूम नहीं कि सच्ची निश्छल भक्ति ही सच्ची उपासना है?"

○

# श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शन(५)

## साकार से निराकार और पुनः साकार की ओर

स्वामी योगेशानन्द

(लेखक अमेरिकन हैं और विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो में कार्यरत हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवन में घटे दिव्य अनुभवों का सुन्दर संकलन किया है, जो रामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा 'The Visions of Sri Ramakrishna' के नाम से ग्रन्थाकार में प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक की अनुमति से यह अनुवाद हिन्दी पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवाद-कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य ने किया है।—स०)

रामलला की कहानी सन् १८६४ से प्रारम्भ होती है। क्या धर्म के इतिहास के पन्नों में इस प्रकार की कोई घटना और कहीं उपलब्ध है? किस प्रकार शिशु राम की एक मूर्ति एक सन्त की भक्ति के द्वारा जीवन्त हो उठी तथा उसे आशीर्वाद और परितोष प्रदान करते हुए उससे भी वड़े एक महात्मा के पास चली गयी—ऐसी घटना का उल्लेख, जहाँ तक हमें पता है, गोपाल की माँ[1] के जीवन में घटित घटनाओं को छोड़, आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिपिबद्ध वर्णनों में और कहीं भी नहीं है। उन दिनों दक्षिणेश्वर में आनेवाले अनेक साधु-महात्माओं में जटाधारी नाम के एक वैष्णव सन्त थे, जो रामायत वाबाजी के नाम से भी परिचित थे। उनका पूरा मन रामलला के एक छोटे से धातु-निर्मित विग्रह में लगा हुआ था, जिसकी वे नित्य पूजा करते। रामलला उनका जीवन्त साथी वन गया था।

---

१. श्रीरामकृष्णदेव की एक शिष्या, जिनकी दिव्य अनुभूतियाँ इनमे कुछ-कुछ मिलती-जुलती हैं।

वह उन्हें खुली आँखों से भी निरन्तर दीख पड़ता था, और विस्मय की बात तो यह है कि श्रीरामकृष्ण भी उसे देख पाते थे। सौभाग्यवश पूरी घटना हमें ठाकुर के अपने ही शब्दों में मालूम है, जिसे यहाँ पर हम उद्धृत कर रहे हैं—

"वह बाबाजी उस मूर्ति की सदा से सेवा करता था। रामलला सचमुच भोजन कर रहा है या कोई वस्तु खाने के लिए माँग रहा है, टलहने जाना चाहता है, प्रेमपूर्वक हठ कर रहा है इत्यादि उसे प्रत्यक्ष दिखाई देता था! और उस मूर्ति को लेकर वह सदा आनन्द-विह्वल तथा मस्त रहा करता था। मुझे भी रामलला के इस प्रकार के आचरण दृष्टिगोचर होते थे तथा प्रतिदिन चौबीस घण्टे उस साधु के समीप बैठा-बैठा मैं रामलला को देखा करता था। ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, त्यों-त्यों रामलला का भी मेरे प्रति प्रेम बढ़ने लगा। मैं जब तक बाबाजी के पास रहता था, तब तक रामलला भी वहाँ पर चुपचाप रहा करता था, खेलता रहता था, और ज्यों ही मैं वहाँ से अपने कमरे में चला आता था, उस समय वह भी मेरे साथ ही साथ चल दिया करता था। मेरे मना करने पर भी साधु के समीप वह नहीं ठहरता था! पहले पहल मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मैं अपने मन की धुन में ही ऐसा देखा करता हूं। अन्यथा साधु के उस चिरपूजित विग्रह का, जिसको वह लाड़-प्यार करता है—भक्ति-पूर्वक अत्यन्त सावधानी से जिसकी सेवा करता है, उस साधु की अपेक्षा मुझसे अधिक प्यार होना क्या कभी सम्भव हो सकता है? किन्तु मेरी इस धारणा का

मूल्य ही क्या था? जैसे मैं तुम लोगों को देख रहा हूँ, रामलला को भी ठीक इसी प्रकार से देखा करता था; मुझे सचमुच यह दिखाई देता था कि कभी वह मेरे आगे-आगे, कभी पीछे-पीछे नाचता हुआ मेरे साथ चला आ रहा है। कभी मेरी गोदी में चढ़ने के लिए हठ कर रहा है। पुन: जब मैं उसे गोद में लिये रहता था, तो कभी-कभी किसी भी तरह वह गोद में नहीं रहना चाहता था, गोद से उतरकर धूप में दौड़ना, काँटेदार झाड़ियों में जाकर फूल तोड़ना या गंगाजी में उतरकर उछल-कूद मचाना चाहता था! मैं उसे मना करता था, 'अरे, ऐसा मत कर, धूप में पैर जलेंगे। जल में मत कूद, सर्दी हो जाएगी, बुखार आ जाएगा।' पर उन बातों को वह कब सुनने लगा? मानो कोई और किसी से कह रहा है! कभी वह कमल-जैसे सुन्दर नेत्रों से मेरी ओर देखकर मुसकराता हुआ और अधिक ऊधम मचाने लगता था। अथवा दोनों ओठों को फुलाकर मुँह बनाकर मेरे साथ उपहास करने लगता था। तब मैं सचमुच ही क्रोधित हो कह उठता था, 'अच्छा पाजी, ठहर जा; आज मैं तेरी हड्डियाँ तोड़ दूँगा!' —इतना कहकर धूप तथा पानी से बलपूर्वक मैं उसे खींच लाता था तथा उसे कुछ न कुछ देकर तथा भुलावा दे कमरे के अन्दर खेलने को कहा करता था। पुन: जब कभी मैं यह देखता कि वह ऊधम मचाने से किसी भी तरह बाज नहीं आ रहा है, तब मैं दो-एक धौल-थप्पड़ भी जमा देता था। मार खाकर अपने दोनों सुन्दर ओठों को फुलाकर सजल नेत्र से वह मेरी ओर देखता था। उस समय मेरे मन में कष्ट होता था;

तब मैं उसे गोद में लेकर स्नेहपूर्वक शान्त किया करता था। ठीक-ठीक मैं ऐसा ही देखा करता था तथा उसके साथ इस तरह के आचरण किया करता था।

"एक दिन जब मैं नहाने जा रहा था, उस समय वह भी मेर साथ चलने के लिए हठ करने लगा। बाध्य होकर उसको मुझे ले जाना पड़ा। नहाने के बाद उसने किसी भी तरह जल से उठना नहीं चाहा, मैं कहता ही रहा, पर उसने नहीं सुना। अन्त में क्रोधित हो जब मैंने उसके सिर को जल में डुबोकर कहा कि—'लो, जल में जितना रहना चाहो रहो', तब मैंने देखा कि जल के अन्दर सचमुच उसका दम घुट रहा है, उसका शरीर काँप रहा है। उस समय उसके कष्ट को देखकर 'यह मैंने क्या किया' कहता हुआ जल से गोद में लेकर उसे मैं उठा लाया।

"और एक दिन उसके लिए मेरे मन में कितना कष्ट हुआ था, कितना रोया था, मैं कह नहीं सकता। उस दिन रामलला के हठ को देखकर उसके चित्त को दूसरी ओर आकृष्ट करने के निमित्त मैंने धान समेत चार खीलें उसे खाने को दीं। तदनन्तर मैंने देखा कि उन खीलों को चबाते हुए धान के छिलकों से उसकी नरम जीभ छिल गयी है। यह देखकर मुझे अत्यन्त कष्ट हुआ; उसे गोद में लेकर जोर से मैं रोने लगा तथा उसकी ठोड़ी पकड़कर कहने लगा—'माता कौशल्या जिस मुँह में यह सोचकर कि कहीं लग न जाय, खीरसा, मलाई, नवनीत आदि भी अत्यन्त साव-धानी के साथ खिलाया करती थीं, मैं इतना अभागा हूँ कि उस मुँह में ऐसी तुच्छ वस्तु को देते हुए मेरे मन

में थोड़ा-सा भी संकोच नहीं हुआ!" ज्योंही श्रीरामकृष्णदेव ने इन बातों को कहा, तत्काल ही उनका वह पहला शोक पुनः जाग्रत् हो उठा तथा वे अधीर हो ऐसी व्याकुलता के साथ रोने लगे कि सुननेवालों की आँखें भी डबडबा उठीं।[२]

"किसी-किसी दिन रसोई करने के बाद भोग देते समय उस साधु को रामलला का दर्शन ही नहीं मिलता था। उस समय दुःखित होकर दौड़ता हुआ वह मेरे कमरे में उपस्थित होता था, वहाँ आकर रामलला को वह खेलते हुए देखता था। उस समय क्षुभित हो उससे जो मन में आता था, वह कहता था। वह कहता, 'तुझे भोजन कराने के लिए इतनी रसोई बनाकर मैं ढूंढ़ रहा हूँ और तू यहाँ निश्चिन्त होकर खेल रहा है! तेरी प्रकृति ही ऐसी है, जो इच्छा होती है, वही तू किया करता है, तेरे हृदय में लेशमात्र भी दया नहीं है। पिता-माता को त्यागकर तू वन चला गया था, रोते-रोते पिता बेचारे का देहान्त हो गया, फिर भी तू नहीं लौटा—उससे फिर नहीं मिला'—इस प्रकार बहुत कुछ कहता हुआ रामलला को वह खींचकर ले जाता था तथा उसे भोजन कराता था। इस तरह दिन बीतने लगे। उस साधु ने बहुत दिन तक यहाँ निवास किया था, क्योंकि रामलला मुझे छोड़कर जाना नहीं चाहता था और सदा से अपने अत्यन्त प्रिय रामलला को छोड़कर उसके लिए चल देना भी सम्भव नहीं था। तदनन्तर एक दिन अकस्मात् वह साधु मेरे समीप उपस्थित हुआ तथा सजल नयनों से मुझसे कहा, 'मैं

२. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भाग २, द्वितीय सं., पृष्ठ २९१-९३।

जैसे रामलला को देखना चाहता था, उसने कृपा कर मेरे हृदय की प्यास मिटाकर मुझे तदनुरूप दर्शन दिया है तथा कहा है कि वह यहाँ से अब नहीं जाएगा, तुमको छोड़कर वह किसी भी तरह जाना नहीं चाहता --अब मेरे मन में कुछ कष्ट नहीं है। तुम्हारे समीप वह सुखपूर्वक रहता है, आनन्द से खेलता-कूदता है, यह देखकर मेरा चित्त आनन्द से भरपूर हो जाता है। अब मेरी यह धारणा हो चुकी है कि जिसमें उसे सुख मिलता है, उसी में मेरा सुख है। इसीलिए अब उसे तुम्हारे समीप रखकर मैं अन्यत्र जा सकूँगा। यह सोचकर कि वह तुम्हारे निकट सुखपूर्वक रह रहा है, ध्यानमात्र से ही मुझे आनन्द प्राप्त होगा'--इतना कहने के बाद रामलला को मुझे देकर उसने विदा ली। तभी से रामलला यहाँ है।"[३]

इस त्रिपक्षीय सम्बन्ध तथा इसकी समाप्ति की घटना में काफी कुछ विचारणीय है, क्योंकि ऐसी बात नहीं है कि रामायत साधु अपने दर्शन से 'ऊपर' उठ गये हों या यह कि उन्हें अचानक पश्चिमी शिक्षा का लाभ मिल गया हो, जिससे उन्हें यह 'बोध' हो गया हो कि रामलला उनका अपना ही 'दृष्टिभ्रम' था। ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। बल्कि जटाधारी की भक्ति ऐसी परिपूर्ण और सार्वभौमिक हो गयी कि उसमें स्वार्थ का लेश तक न रह गया और जैसा कि स्वामी सारदानन्द कहते हैं, उन्हें यह अनुभव हो गया कि उनके प्रिय रामलला उनके चारों ओर फैले सभी लोगों के जीवन में विराजित हैं। जहाँ तक श्रीरामकृष्णदेव का प्रश्न

३. वही, भाग २, द्वितीय सं., पृष्ठ २९८-९९।

है, सम्भवतः यहाँ भी उन्होंने साधु की भलाई के लिए ही उनका दर्शन अपने भीतर खींच लिया।

इस काल की साधना में श्रीरामकृष्ण का मन लीला और नित्य के बीच आरोह-अवरोह करता रहता था। जब उनका मन लीला में उतर आता, तो वे दिन-रात सीताराम का चिन्तन किया करते थे। उन्होंने कहा था—'उन दिनों सदा मुझे सीताराम के रूप भी दीख पड़ते थे।'[४] फिर वे कभी-कभी राधाकृष्ण या कभी चैतन्य महाप्रभु का दर्शन करते और उन्हीं में तन्मय हो जाते। रामलला-काल में भैरवी ब्राह्मणी की क्या भूमिका थी इस विषय में कुछ स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। चूँकि स्वामी सारदानन्द का कथन है कि उन्होंने श्रीरामकृष्ण के वात्सल्य तथा मधुर भाव की साधना में किंचित् सहायता की होगी, हमारा यह मान लेना सम्भवतः उचित होगा कि इस विषय में उनकी पूर्ण सहमति थी, तथा उन्होंने श्रीरामकृष्ण को उत्साहित भी किया होगा।

शाक्त तन्त्रों की साधना पूर्ण करने के बाद अब श्रीरामकृष्ण ने वैष्णव तन्त्रों की साधना आरम्भ की, जिनका लक्ष्य है श्रीराम, श्रीराधा, श्रीकृष्ण या श्रीचैतन्य के साथ एकत्व की प्राप्ति। इन शास्त्रों के मतानुसार श्रीराधा का प्रेम ही दिव्य प्रेम का सर्वोच्च और श्रेष्ठतम उदाहरण है। राधारानी ने, जिनका पूरा मन-प्राण श्रीकृष्ण में लगा हुआ था, अपने शरीर में पूरे उन्नीस महाभावों तथा उनके दैहिक प्रभावों को अभिव्यक्ति की थी। उनके पश्चात् श्रीचैतन्य महाप्रभु का

४. 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ ९६।

ऐतिहासिक उदाहरण रखा जाता है, जिन्हें राधाकृष्ण का संयुक्त विग्रह माना जाता है। मूर्तिमान् भक्ति की इस प्रसिद्ध परम्परा में श्रीरामकृष्ण तृतीय हुए। उक्त मत के अनुसार सर्वप्रथम श्रीराधारानी की कृपा पाये बिना श्रीकृष्ण का दर्शन होना असम्भव जानकर, श्रीरामकृष्ण अपने हृदय के सारे आवेग राधारानी के प्रति निरन्तर अर्पित करते रहे। सफलता ने अविलम्ब उनके चरण चूमे। पूर्वोक्त सीता के दर्शन में हमें परिस्थितियों का पता है कि कैसे वे बिना आवाहन के ही उनकी खुली आँखों के सामने पंचवटी में चलते हुए आयीं। पर यहाँ हमें स्थान और समय नहीं मालूम। उन्होंने बताया था कि राधारानी की अंगकान्ति नागकेसर पुष्प के केसर की भाँति चमकते पीतवर्ण की थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा था कि उस मूर्ति की महिमा और मधुरिमा का वर्णन करना असम्भव है। राधारानी भी ठाकुर के शरीर में विलीन हो गयीं।[५] इसके पश्चात् उन्हें श्रीकृष्ण के रूप का दर्शन हुआ और उनके साथ भी ऐसा ही हुआ। श्रीरामकृष्ण की मधुरभाव साधना, जिसमें उन्होंने अपने आपको राधारानी के साथ एकात्म कर लिया था, की चरम परिणति के रूप में प्रियतम श्रीकृष्ण ने आकर उनके प्राणों पर अधिकार कर लिया। वे दो-तीन महीने तक पूरी तौर से माधव के चिन्तन में डूबे रहे; कभी वे अपने को उनसे अभिन्न मानते तो कभी सर्व जीवों को उन्हीं का प्रतिरूप।[६] इस सन्दर्भ में हमें

---

५. 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ ३५१।
६. वही, भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ ३५४।

उनके एक अन्य दर्शन का भी पता है, जो उन्हें तब हुआ, जब वे राधाकान्त मन्दिर के सामने बैठे हुए थे। वहाँ पर भागवत का पाठ सुनते हुए श्रीरामकृष्ण को भावसमाधि लग गयी तथा उन्हें श्रीकृष्ण की एक ज्योतिर्मयी मूर्ति का दर्शन हुआ। तदनन्तर उस मूर्ति के पादपद्म से एक ज्योति ने निकलकर पहले तो पढ़े जा रहे भागवत का स्पर्श किया और फिर ठाकुर के वक्ष-स्थल से लगकर कुछ काल तक इन तीनों को संयुक्त रखा। इस दर्शन का फल 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के सभी पाठकों को पता है; वह है भागवत, भक्त और भगवान् की एकता के बारे में उनका आजीवन दृढ़ विश्वास। वे कहा करते थे—"भागवत, भक्त, भगवान् —तीनों एक हैं तथा एक ही तीन हैं।"[७]

ठाकुर के मधुरभाव में डूब जाने के फलस्वरूप उनके शरीर में महाभाव के जो लक्षण प्रकट हुए थे, उनका 'लीलाप्रसंग' में विस्तारपूर्वक वर्णन है। अपना मुख्य विषय जारी रखते हुए हम यहाँ पर उस अवस्था के बारे में उन्हीं के कुछ वाक्य उद्धृत कर रहे हैं—

"ईश्वर के लिए जो विरहाग्नि होती है, वह साधारण नहीं होती। उस अवस्था में मैं तीन दिनों तक अचेत पड़ा रहा था। हिल-डुल भी नहीं सकता था, एक ही जगह पर पड़ा रहता था। जब होश आया, तब ब्राह्मणी मुझे पकड़कर नहलाने के लिए ले गयी; परन्तु हाथ से देह छूने की हिम्मत न थी—देह मोटी चादर से ढँकी रहती थी। उसी चादर पर से पकड़कर ब्राह्मणी ले गयी थी। देह में जो मिट्टी लगी हुई थी,

७. वही, भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ ३५५-५६।

वह जल गयी थी। जब वह अवस्था आती थी, तब मरुमज्जा के भीतर से जैसे कोई हल चला देता था। 'अब जी गया, अब जी गया' यही रट लगी रहती थी। परन्तु उसके बाद फिर बड़ा आनन्द होता था।"[८]

ऐसा लगता है कि अब श्रीरामकृष्ण के मन में अचानक एक परिवर्तन आ गया। दिव्य भावों के परिवर्तन से थककर अब वे सापेक्ष जीवन के परे जाने की आवश्यकता महसूस करने लगे। उन्होंने माँ से प्रार्थना की—"जिसमें विच्छेद नहीं है ऐसी अवस्था कर दे।" कुछ काल के लिए उनका मन 'नित्य', जिसे वे 'अखण्ड सच्चिदानन्द' भी कहते थे, में डूबा रहा। उन्होंने अपने कमरे से सभी देवी-देवताओं की तस्वीरें हटा दीं। इसके वर्णन में ठाकुर ने असाधारण भाषा का प्रयोग किया है। वे कहते हैं—"केवल उस अखण्ड सच्चिदानन्द—उस आदिपुरुष का चिन्तन करने लगा। स्वयं दासी-भाव से रहने लगा—पुरुष की दासी!" हम यहाँ उलझन में पड़ सकते हैं कि अपने आपको निराकार की दासी मानना भला कैसे सम्भव हो सकता है! तो कहा जा सकता है कि यदि उनका ध्यान किया जा सकता है, तो सेवा भी की जा सकती है; और श्रीरामकृष्ण के लिए सगुण-निराकार ईश्वर के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग कोई असाधारण बात नहीं थी। अन्ततोगत्वा उनका भौतिक और आध्यात्मिक का भेद मिट गया तथा वे सर्व वस्तुओं में अधिकाधिक ईश्वर-दर्शन करने लगे। एक दिन सुबह वृक्ष से पूजा के लिए बेलपत्र तोड़ते समय थोड़ी-सी छाल निकल आयी। वृक्ष उन्हें

८. 'वचनामृत', भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ १०२-३।

चेतना से परिपूर्ण दीख पड़ा तथा वृक्ष को कष्ट पहुँचने की भावना से उन्हें वेदना होने लगी। श्रीरामकृष्ण के अवशिष्ट जीवन में यह भाव बारम्बार आता रहा। कभी-कभी वे पूजा के लिए दुर्वा न तोड़ पाते। फिर कभी एक नीबू को भी वे बड़ी कठिनाई से ही काट पाते। भक्तों के एक समूह से उन्होंने कहा था, "एक दिन मैं फूल तोड़ रहा था। उसने दिखलाया, पेड़ में फल खिले हुए हैं, जैसे सामने विराट् की पूजा हो रही हो—विराट् के सिर पर फूल के गुच्छे रखे हुए हों। फिर मैं फूल तोड़ न सका।"[९]

चूँकि यह भाव निश्चय ही तोतापुरी के आगमन से थोड़े ही दिनों पूर्व आया था, इसे उस आगमन की तयारी कहा जा सकता है। परवर्ती काल में श्रीरामकृष्ण की चेतना सर्वोच्च सत्य तक—ब्रह्म तक उठनेवाली थी।

१८६५ ई. के किसी एक दिन परम तपस्वी तथा नष्टिक संन्यासी तोतापुरी नाव में बैठकर दक्षिणेश्वर पहुँचे। वहाँ उन्हें घाट पर चाँदनी में एक असाधारण पुरुष को अन्यमनस्क भाव से बैठे देख अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वे उसके निकट गये और बोले, "तुम उत्तम अधिकारी प्रतीत हो रहे हो, क्या तुम वेदान्त-साधना करना चाहते हो?" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया कि ऐसे मामलों में वे स्वयं निर्णय नहीं लेते, इसलिए वे जगदम्बा से पूछकर ही बता सकेंगे। पूछने के लिए मन्दिर में जाकर वे भावसमाधि में डूब गये।

९. वही, भाग २, द्वितीय सं., पृष्ठ ६२४; भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ ९६।

माँ ने कहा, "जाओ सीखो, तुम्हें सिखाने के लिए ही संन्यासी का यहाँ आगमन हुआ है।" श्रीरामकृष्ण हर्ष से उत्फुल्ल हो अर्धबाह्य अवस्था में तोतापुरी के समीप आये तथा माँ का आदेश उन्हें कह सुनाया।[१०]

ठाकुर की आगामी आन्तरिक अनुभूति व्यक्त होती है उनकी पहली बार[११] निर्विकल्प समाधि की उपलब्धि के नाटकीय तथा ऐतिहासिक वर्णन के रूप में। ब्राह्मणत्व के चिह्न—जनेऊ और चोटी आदि—चले गये। तोतापुरी न पंचवटी में स्थित एक छोटी सी कुटिया में जगदम्बा के ईश्वरोन्मत्त बालक को संन्यास में दीक्षित कर उसे आचार्य शंकर द्वारा स्थापित आदरणीय दशनामी तपस्वी सम्प्रदायों में से एक का संन्यासी बना दिया। परन्तु जीवनवृत्त में यह नया आयाम बिना संघर्ष के ही नहीं जुड़ गया। श्रीरामकृष्ण को अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का उपदेश करने के बाद तोतापुरी व्यग्र हो उठे कि उनका शिष्य लक्ष्यार्थ की अपरोक्षानुभूति कर ले और अब उसका मन अद्वय आत्मतत्त्व में लीन हो जाय। इस घटना का वर्णन करते हुए ठाकुर ने कहा था—"दीक्षाप्रदान करने के पश्चात् न्यांगटा नाना प्रकार के सिद्धान्त-वाक्यों का उपदेश देने लगा तथा उसन मन को सब प्रकार से निर्विकल्प कर आत्मचिन्तन में निमग्न हो जाने को कहा। किन्तु मेरी स्थिति ऐ ी

---

१०. 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ ३६५।

११. सभी विवरणों ‍क अध्ययन से ऐसा प्रतीत ‍होता है कि यही उनकी पहली निर्विकल्प समाधि थी, तथापि एक मत ऐसा भी है कि उन्होंने पहले भी इसकी अनुभूति की होगी।

हुई कि जब मैं ध्यान करने बैठा, उस समय प्रयत्न-पूर्वक भी मैं मन को निर्विकल्प न कर सका यानी नाम-रूप की सीमा से मुक्त न कर सका। अन्य समस्त विषयों से सहज में मन परावृत्त हुआ, किन्तु तत्काल ही उसमें श्रीजगदम्बा की चिरपरिचित चिद्घनोज्ज्वल मूर्ति प्रदीप्त तथा जाग्रत् रूप से समुदित होकर सब प्रकार के नाम-रूप परित्याग की बात को एक साथ विस्मृत कराने लगी। सिद्धान्त-वाक्यों को सुनने के पश्चात् ध्यान के लिए बैठकर जब बारम्बार ऐसा होने लगा, तब निर्विकल्प समाधि के सम्बन्ध में मैं प्रायः निराश हो उठा एवं आँखें खोलकर मैंने न्यांगटा से कहा, 'मुझसे यह सम्भव नहीं है, मन को पूर्णतया निर्विकल्प कर आत्मचिन्तन करने में मैं असमर्थ हूँ।' न्यांगटा अत्यन्त उत्तेजित होकर तीव्र तिरस्कार करता हुआ बोला, 'क्यों नहीं होगा?'—यह कहकर कुटिया के अन्दर चारों ओर दखने लगा एवं एक काँच के टुकड़े पर दृष्टि पड़ते ही उसने उसे उठा लिया तथा सूई की तरह उसके तीक्ष्ण अग्रभाग को मेरी भौंहों के बीच बलपूर्वक गड़ाकर बोला, 'इस बिन्दु में अपने मन को समेट लो।' तब पुनः दृढ़संकल्प हो मैं ध्यान करने बैठा तथा श्रीजगदम्बा की मूर्ति पहले की भाँति मन में उदित होते ही ज्ञान को खड्ग के रूप में कल्पना कर उसके द्वारा उस मूर्ति को मैंने मन ही मन दो टुकड़े कर डाला, फिर मेरे मन में और कोई विकल्प न रहा; तीव्र गति से मेरा मन समग्र नाम-रूप-राज्य के परे चला गया और मुझे समाधि लग

गयी ।"[१२] श्रीरामकृष्ण उसी मुद्रा में बैठे रहे, शरीर में प्राण-स्पन्दन का कोई चिह्न न रहा, मुखमण्डल शान्त और तेजोमय हो उठा। गुरु कुटिया के बाहर बैठे-बैठे समाधि-भंग होने की प्रतीक्षा करते रहे। लम्बी रात बीत गयी, फिर तीन दिन और बीते। शिष्य की महानता पर विस्मय-मुग्ध तोतापुरी तब कुटिया के भीतर फिर से गये, और इस महान् आत्मा को खींचकर जागतिक भूमि पर ले आये।

तोतापुरी के दक्षिणेश्वर में रहते समय ही उस वर्ष के बाकी काल में श्रीरामकृष्ण को हुए दो दर्शनों का उल्लेख मिलता है। परिव्राजक संन्यासी को श्रीरामकृष्ण के चचेरे भाई हलधारी के साथ शास्त्र-पाठ और शास्त्र-चर्चा करना पसन्द था। एक दिन वे दोनों कालीमन्दिर में बैठकर अध्यात्म रामायण पढ़ रहे थे।[१३] श्रीरामकृष्ण भी बैठकर सुन रहे थे कि अचानक उनके समक्ष वे शब्द सजीव हो उठे। उन्हें एक नदी का दर्शन हुआ, जिसके दोनों ओर हरे-भरे वन थे तथा जाँघिया पहने हुए राम और लक्ष्मण चले जा रहे थे।[१४] एक अन्य दिन उन्होंने बाबू की कोठी के सामने अर्जुन का रथ देखा था। सारथि के वेश में श्रीकृष्ण बैठे हुए थे।[१५]

तोतापुरी के दक्षिणेश्वर से चले जाने के बाद

१२. 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ ३७१।
१३. वही, भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ ३६२-६३।
१४. 'वचनामृत', भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ २१९।
१५. वही, भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ २१९।

ठाकुर ने पुनः निर्विकल्प समाधि में जाने का निश्चय किया और वे उस अवस्था में प्रायः छः महीने तक रहे। उनका इस काल का जीवन एक पहेली है, क्योंकि उस समय उनकी देखभाल हृदय, मथुर, ब्राह्मणी या किसी सम्बन्धी (सभी तब तक दक्षिणेश्वर में ही थे)--इनमें से किसी के द्वारा न हो मन्दिर में आये हुए एक परिव्राजक साधु के द्वारा हुई थी। उस साधु को पता नहीं कैसे ज्ञात हो गया था कि इस जटाजूटवाले और मृत के समान दीख पड़नेवाले शरीर की, जिसके मुख और नाक में मक्खियाँ भिनभिनाया करती हैं, जगत् के कल्याण के लिए रक्षा करना आवश्यक है। कभी-कभी व ठाकुर के शरीर पर अपने छोटे से डण्डे से आघात करते तथा थोड़ा सा होश में आने पर उनके मुख में खाद्य पदार्थ ठूँस दिया करते। श्रीरामकृष्ण ने बताया था—"साधारण जीव जिस अवस्था में पहुँचकर वापस नहीं आ सकता, मैं अवस्थित था। किस तरह दिनरात व्यतीत हो जात थ इसका मुझ पता नहीं चलता था। कभी-कभी अपने आप शौचादि भी हो जाता था, इसका भी मुझे कोई होश नहीं रहता था। इस तरह छः महीने व्यतीत होन क बाद मुझे माँ की यह वाणी सुनायी पड़ी--'अर, लोकशिक्षा के लिए तू भावमुखी रह'।"[१६] इसस पूर्व भी वे यह आदेश दो बार सुन चुके थे (दखिए इस लेखमाला का तीसरा लेख)। इस शब्द की व्याख्या में स्वामी सारदानन्द ने अनेक पृष्ठ व्यय किये हैं।

१६. 'लीलाप्रसग', भाग २, द्वितीय सं., पृष्ठ ५१-५२।

हम पहले ही कह आये हैं कि वह एक अनुभूति-सम्पन्न मन की सामान्य अवस्था का नाम है, जो एक ओर तो उसे ईश्वर के विभिन्न रूपों के दर्शन और समाधिज आनन्द की अनुभूति करने की क्षमता प्रदान करती है, तो दूसरी ओर सापेक्ष जगत् को छोड़कर निर्विशेष ब्रह्म में डूब जाने की भी। आगामी कई वर्षों तक श्रीरामकृष्ण के जीवन की यही अवस्था रही। जैसा कि हम पहले (भूमिका में) उल्लेख कर चुके हैं, १८७४ ई. में एक भक्त ने उन्हें लगातार तीन दिन और तीन रात समाधि में डूबे देखा था। ठाकुर अनेकों बार कहा करते थे--"मन की स्वाभाविक गति ही ऊर्ध्वगामी, निर्विकल्प अवस्था की ओर है। एक बार समाधि में जाने पर वह नीचे नहीं उतरना चाहता। तुम लोगों के लिए उसे जबरन उतारना पड़ता है। यहाँ तक कि यह उद्देश्य भी पर्याप्त नहीं है, अतः मुझे छोटी-मोटी इच्छाओं का सहारा लेकर कहना पड़ता है, 'पानी पीऊँगा', या 'अमुक चीज़ खाऊँगा' और इस प्रकार मैं अपने मन को धीरे-धीरे देह-बोध तक खींच लाता हूँ।"

छः महीने तक उच्चतम अवस्था में रहने के पश्चात् श्रीरामकृष्ण शारीरिक अस्वस्थता से बहुत पीड़ित रहे। आगामी छः महीनों तक पेट में गड़-बड़ी तथा मरोड़ चलती रही। परन्तु दिव्य अनुभूतियों का ताँता लगा ही रहता था। हृदय का कहना था कि न तो उसने ऐसा भगवद्भाव कभी देखा और न ऐसा रोग ही। ठाकुर ने बताया था--"उस समय

में बहुत बीमार था। क्षण क्षण में दस्त आते थे और बहुत अधिक मात्रा में। सिर में जान पड़ता था दो लाख चींटियाँ काट रही हैं। परन्तु ईश्वरीय प्रसंग दिनरात जारी रहता था। डाक्टर ने आकर देखा कि मैं बैठा हुआ विचार कर रहा था। तब उसने कहा—'क्या यह पागल है? दो हाड़ लेकर विचार कर रहा है।' ईश्वर के कितने रूपों के दर्शन हो चुके हैं, कुछ कहा नहीं जा सकता। उस समय मुझे पेट की सख्त बीमारी थी। और उन सब दर्शनों के समय वह और भी अधिक बढ़ जाती थी। इसलिए जब मुझे वे दर्शन होते थे तब मैं उन पर 'थू थू' करने लगता था,—परन्तु वे तो मेरे पीछे भूत के समान लग जाते थे। इन रूपों के भावावेश में मैं मस्त रहा करता था और रात-दिन न जाने कहाँ बीत जाते थे। दूसरे दिन फिर दस्त आने लगते थे।"[१७]

एक अन्य समय उन्होंने इस काल का संक्षेप में यों वर्णन किया था—"ओह! मुझे भी कैसी कैसी मानसिक परिस्थितियों में से होकर गुजरना पड़ा। मेरा मन कभी कभी निराकार परमेश्वर में लीन हो जाता था। मुझे अपने सिर तक का ध्यान नहीं था। मैं मरणासन्न हो गया था। तब तो मैंने रामलाल की चाची (सारदादेवी) को अपने पास रखने का सोचा था। मैंने अपने कमरे से सभी चित्रों को हटाने के लिए कह दिया। जब मुझे बाह्यज्ञान प्राप्त हुआ और जब मेरा मन उस अवस्था से उतरकर साधा-

१७. 'वचनामृत', भाग १, तृतीय सं., पृष्ठ ५१५; भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ २१९-२०।

रण अवस्था पर आ गया, तो मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मानो एक डूबते हुए मनुष्य के समान मेरा दम घुट रहा हो। अन्त में मैंने अपने मन में कहा, 'मैं तो लोगों का अपने पास रहना भी नहीं सह सकता हूँ, फिर मैं जीवित कैसे रहूँगा?' तब मेरा मन एक बार फिर भक्ति और भक्त की ओर झुक गया। मैं लोगों से यही लगातार पूछता था कि मुझे क्या हो गया है। भोलानाथ (मन्दिर के एक मुन्शी) ने मुझसे कहा, 'आपकी इस मानसिक स्थिति का वर्णन महाभारत में है। समाधि-अवस्था से उतरने के बाद फिर भला मनुष्य कैसे रह सकता है? निश्चय ही उसे ईश्वर-भक्ति की आवश्यकता होती है तथा ईश्वर-भक्तों का संग।'"[१८] हमारे मत में यह कई महीनों का एक संक्षिप्त विवरण है; क्योंकि, उदाहरण के लिए, सम्भवतः तोतापुरी के आने से पूर्व ही चित्र उतार लिये गये थे।

अब श्रीरामकृष्ण ने सचमुच साधुओं तथा कुछ भक्त-पण्डितों का संग पसन्द किया। गौरी पण्डित का हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं, जो ठाकुर के पास दुबारा आने तक काफी परिपक्व और उदार विचारधारा के हो चुके थे। इसके अतिरिक्त अन्य भी थे। अब उनका मन सिर्फ ईश्वर तथा अध्यात्म विषयक बातें ही सुनना चाहता था, अतः उन्होंने पण्डितों के आगमन पर आनन्द प्रकट किया। वे ऐसे स्थानों की खोज में रहते, जहाँ भागवत, महा-भारत तथा अध्यात्म रामायण का पाठ या चर्चा

१८. वही, भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ १३८।

हुआ करती थी।

इस काल की पीड़ा अभी समाप्त नहीं हुई थी। श्रीरामकृष्ण के जीवन में एक ऐसी अवस्था आयी, जब उन्हें कुछ बाह्य वस्तुओं के साथ एकात्म-बोध हुआ। उन्होंने इसे भावसमाधि की एक विशेष अवस्था बताया, जो बड़ी पीड़ादायी होती है। उन्होंने कहा कि यद्यपि उन्हें इस अवस्था में केवल छः घण्टे ही रहना पड़ा था, तथापि वह असह्य हो उठी थी। इनमें से एक था नयी दूब से भरा हुआ उद्यान का एक भाग। श्रीरामकृष्ण उसके गहरे हरे रंग की ओर देख रहे थे कि उनकी चेतना ऊर्ध्वगामी होने लगी। उसी समय एक व्यक्ति के उस दुर्वादल के ऊपर से होकर गुजरने पर श्रीरामकृष्ण को ऐसा महसूस हुआ मानो कोई उनकी छाती पर से होकर चला जा रहा हो। द्वितीय बार उन्हें एकात्म-बोध हुआ था गंगा में नाव चलानेवाले एक मल्लाह के साथ। वे चाँदनी से नदी की ओर देख रहे थे। उन्होंने दो माझियों को लड़ते हुए देखा। एक के द्वारा दूसरे की पीठ पर आघात करने पर ठाकुर स्वयं पीड़ा से कराह उठे। इसके साथ ही उनकी पीठ पर सूजन का एक लाल चिह्न भी उभर आया, जिसे देखकर हृदय ने बारम्बार पूछा था कि उन्हें किसने मारा।[१९] विभिन्न धर्मों के अनेक सन्तों के जीवन में ऐसी घटनाएँ हुई हैं।

हमें पता है कि श्रीरामकृष्ण के लिए मात्र एक धर्म की साधना यथेष्ट न थी। अब उन्होंने दक्षिणे-

१९. 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ ३८६-८७।

श्वर में एक नवागन्तुक गोविन्द राय से दीक्षा ली, जो सम्भवतः सूफी थे। इसके पश्चात् ठाकुर हिन्दू देवी-देवताओं और परम्पराओं को त्यागकर 'अल्ला' मन्त्र का जप करते हुए इसलाम-धर्म की साधना करने लगे। पहले के ही समान इस बार भी उनका तीक्ष्ण हुआ मन तीन दिन में ही लक्ष्य तक जा पहुँचा। सर्वप्रथम उन्हें लम्बी दाढ़ीयुक्त एक गम्भीर ज्योतिर्मय पुरुष का दर्शन हुआ, तदुपरान्त सगुण (सम्भवतः निराकार) ईश्वर का, और अन्त में उनका मन निर्गुण ब्रह्म में लीन हो गया। यह अनुभूति सम्भवतः कोठी में हुई थी, क्योंकि इसलाम की साधना के लिए वे मन्दिर-प्रांगण से बाहर चले आये थे। इस जीवट की अत्यन्त उदार आध्यात्मिक साधना में दो बिल्कुल अलग सांस्कृतिक धाराओं को एक में जोड़नेवाली यह अनुभूति श्रीरामकृष्ण के मन पर गहरा प्रभाव छोड़ गयी, तथा वर्तमान जगत् के लिए भी वह निस्सन्देह बड़ी महत्त्वपूर्ण है।[२०] इस प्रसंग में एक रोचक बात यह है कि एक बार उन्हें एक छः-सात वर्ष की मुसलमान बालिका के रूप में जगदम्बा का दर्शन हुआ था। उसके माथे पर तिलक था, पर शरीर पर कपड़ा नहीं था। वह ठाकुर के साथ बच्चे के समान हँसी-मसखरी करते हुए घूमने लगी।[२१]

१८६७ ई. में श्रीरामकृष्ण छः वर्ष के पश्चात् अपने ग्राम कामारपुकुर गये। इस पर उनके सम्बन्धी

२०. वही, भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ ३८४-८५।
२१. 'वचनामृत', भाग १, तृतीय सं., पृष्ठ १९९।

और पड़ोसी बड़े ही हर्षित हुए तथा वे भी उन लोगों से मिलकर अत्यन्त आनन्दित हुए। एक दिन दोपहर में पड़ोस की अनेक महिलाएँ एकत्र हो उनके साथ धर्मचर्चा कर रही थीं कि इतने में वे अचानक समाधि में चले गये। वे अनुभव करने लगे कि वे मानो एक मीन हैं और अत्यन्त आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्द-सागर में कभी डूब रहे हैं, कभी ऊपर को उछल रहे हैं तथा कभी नाना प्रकार से तैरते हुए खेल रहे हैं। उन महिलाओं को पता था कि वे बातें करते हुए बहुधा इस प्रकार 'अन्यमनस्क' हो जाते थे, अतः उन्होंने उसका बुरा नहीं माना, बल्कि उनकी अवस्था को लेकर जोर-शोर से बहस करने लगीं। उनमें से एक ने उन लोगों को शान्त करते हुए कहा, "वे इस समय मीनरूप से सच्चिदानन्द-सागर में तैर रहे हैं, अतः शोर मचाने से उनके इस आनन्द में बाधा पहुँचेगी।" श्रीरामकृष्ण का भावावेश भंग होने पर जब इस सम्बन्ध में उनसे पूछा गया, तब वे बोले, "इस महिला का कहना सत्य है। आश्चर्य है, इसे इस बात का पता कैसे चला?"[२२] एक दूसरे दिन गाँव में कीर्तन सुनते समय उन्हें गौरांग-मूर्ति के दर्शन हुए थे।[२३]

उन दिनों कामारपुकुर से कलकत्ता आने क लिए बर्दवान तक का तीस मील का मैदानी रास्ता बैलगाड़ी में तय करना पड़ता था। स्वास्थ्य में पर्याप्त सुधार हो जाने पर श्रीरामकृष्ण ने हृदय के साथ इस मार्ग से यात्रा की। हृदय ने इस यात्रा का एक

---

२२. 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ ३९१।
२३. 'वचनामृत', भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ २१९।

विवरण दिया है, जिसके अनुसार धान के एक खेत में महादेव के प्रिय एक छोटे पौधे को देखकर श्रीरामकृष्ण को वहीं पर शिवजी की पूजा करने की तीव्र इच्छा हुई थी। यद्यपि उस समय ऐसी पूजा के लिए वे औपचारिक रूप से शुद्ध न थे, तो भी वे खेत में ही ध्यान करने को बैठ गये तथा अपने सिर पर कुछ पत्र-पुष्प चढ़ाकर गहरे भाव में डूब गये। अन्त में हृदय को उन्हें उठाकर ले जाना पड़ा था, नहीं तो ट्रेन चूक ही जा रही थी।[२४] 'वचनामृत' में लिपिबद्ध ठाकुर द्वारा कथित निम्न-लिखित संस्मरण क्या उसी घटना की ओर इंगित करती है, यह विचारणीय है—"मैंने देखा, वही सब जीव हुए हैं। मानो पानी के असंख्य बुलबुले—असंख्य जलविम्ब! कामारपुकुर से बर्दवान आते-आते दौड़-कर एक बार मैदान की ओर चला गया—यह देखने के लिए कि यहाँ के जीव किस तरह खाते हैं और रहते हैं!—जाकर देखा, मैदान में चींटियाँ रेंग रही थीं! सभी जगह चैतन्यमय हैं!" इस घटना का वर्णन करते हुए उन्हें भाव हो गया। वे पुनः बोले—"अनेक प्रकार के फूल—तह की तह पँखुड़ियाँ—यह भी देखा है! —छोटा बिम्ब और बड़ा विम्ब।" ईश्वरीय रूप-दर्शन की ये सब बातें कहते कहते श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो रहे हैं। कह रहे हैं—"मैं हुआ हूँ!"—"मैं आया हूँ!" यह बात कहकर ही एकदम समाधिमग्न हो गये।[२५] एक बार उन्होंने

२४. 'Life of Sri Ramakrishna' Advaita Ashrama, Mayavati, 1925 Edition, P. 292.
२५. 'वचनामृत', भाग १, तृतीय सं., पृष्ठ ५९२।

'म' से कहा था—"लम्बे-चौड़े मैदान में खड़े होने से (मुझमें) ईश्वरीय भाव आ जाता है, जैसे किसी हण्डी में रखी हुई मछली तालाब को पहुँच गयी हो।" [२६]

२६. वही, भाग १, तृतीय सं., पृष्ठ ३३३।

○

# श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें:—
# प्रताप चन्द्र हाजरा
## (पूर्वार्ध)

*स्वामी प्रभानन्द*

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के संन्यासी हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके मई, १९८० अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। —स०)

यद्यपि उसका नाम न तो जटिला था न कुटिला,[1] फिर भी श्रीरामकृष्ण के पास आनेवाले भक्त उसे उस नाम से पुकारते, क्योंकि उसे देख उन्हें श्री राधारानी की लीला की इन दो प्रसिद्ध पौराणिक पात्रों का स्मरण हो आता। वह था प्रताप चन्द्र हाजरा। वह सामान्य कद का था और उसकी वृत्ति, रूप और रंग सब रूखे थे। उसके स्वभाव में धार्मिकता तथा विद्वेष का विचित्र मिश्रण था।

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने प्रताप से पूछा, "अच्छा बताओ, यहाँ आनेवालों के बारे में तुम्हारा क्या विचार है? किसमें कितना कितना सत्त्व है?"

प्रताप—नरेन्द्र में सौ प्रतिशत है तथा मुझमें एक सौ दस प्रतिशत।

---

१. वैष्णव-शास्त्रों में श्रीकृष्ण तथा वृन्दावन की गोपियों की लीला में जटिला एवं कुटिला नाम की दो विघ्न उत्पन्न करनेवाली पात्र हैं।

श्रीरामकृष्ण—और मुझमें ?

प्रताप—आपमें अभी भी कुछ रजस् के कण हैं। मैं तो कहूँगा, आप में सिर्फ पचहत्तर प्रतिशत होगा।

जो लोग यह वार्तालाप सुन रहे थे, वे ठठाकर हँस पड़े।

श्रीरामकृष्ण के पास आनेवालों में शायद ही कोई प्रताप की तरह रहा हो, जो हर बात पर नुक्ताचीनी और व्यंग्य करने के लिए तैयार बैठा रहता था। श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व के चहुँओर उत्पन्न होनेवाले सुरमय वातावरण में उसकी उपस्थिति बेसुरी लगती। कई लोगों को प्रताप अपनी तीखी जबान और बेतुके व्यवहार के कारण मजेदार व्यक्ति लगता। श्रीरामकृष्ण के एक जीवनीकार ने लिखा है, "नाटक में जिस प्रकार विदूषक होता है, उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण की जीवनी में प्रताप को स्थान मिला है।[२] वास्तव में, संक्षेप में यही कारण था कि श्रीरामकृष्ण उसको सहन करते और उसके प्रति सहानुभूति तथा चिन्ता दिखाते। वे ही थे, जिन्होंने पहले-पहल उसकी तथा जटिला-कुटिला की भूमिकाओं में समानता की ओर दृष्टि खींची थी। श्रीरामकृष्ण ने एक बार अर्ध-भावावस्था में विनोद-भरे शब्दों में कहा था, "हाजरा को देखा, शुष्क काष्ठवत् है। तब यहाँ रहता क्यों है? इसका कारण है, जटिला-कुटिला के

२. अक्षय कुमार सेन : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुंथि' (बँगला) (कलकत्ता, उद्बोधन कार्यालय, पंचम संस्करण), पृ. १८८।

रहने से लीला की पुष्टि होती है।"[3] २३ दिसम्बर, १८८३ को श्रीरामकृष्ण ने उससे कहा था, "तुम्हें विश्वास कहाँ है? तुम तो यहाँ उसी तरह हो जैसे जटिला और कुटिला व्रज में थीं,—लीला की पुष्टि के लिए!"

सन् १८४६ के लगभग हुगली जिले के मुहम्मदपुर, जो मार्जरे के नाम से प्रसिद्ध है, में जन्मा प्रताप चन्द्र हाजरा अपने गाँव के अन्य लोगों-जैसा ही पला-बढ़ा था। मौरूसी आँगन के उत्तरी कोने में बना विष्णु-मन्दिर तथा पारिवारिक पूजागृह में प्रतिवर्ष होनेवाली दुर्गा-पूजा उस मध्यमवर्गीय ब्राह्मण-परिवार की धार्मिक परम्परा दर्शाती है, जिससे प्रताप आया था। प्रताप के पिता नारायण हाजरा सद्गोप सम्प्रदाय के थे तथा उनकी परिस्थिति साधारण थी।

प्रताप की कुछ स्कूली शिक्षा हुई थी, पर व्यवस्थित रूप से शायद न तो संस्कृत टोल में और न अँगरेजी स्कूल में ही। जहाँ तक उसकी बौद्धिक योग्यता का सवाल है, उसके लिए हम स्वामी सारदानन्द की निर्भूल उक्तियों पर निर्भर कर सकते हैं। वे लिखते हैं—"अन्य दोष-गुणों के साथ-साथ हाजरा महाशय के हृदय में एकाएक किसी बात पर विश्वास न कर लेने का भाव भी था। उनके स्तर के अल्पशिक्षित व्यक्तियों की तुलना में उनकी बुद्धि भी कुछ अच्छी ही थी। इसलिए नरेन्द्रनाथ की तरह अँगरेजी शिक्षित लोग जब पाश्चात्य संशयवादी दार्शनिकों के मतामतों की आलो-

३. श्री 'म' : 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भाग १, पृ. ३९७ (रामकृष्ण मठ, नागपुर, द्वितीय संस्करण)।

चना करते थे, तब उसमें से कुछ-कुछ वे समझ लेते थे। बुद्धिमान् नरेन्द्रनाथ इसलिए उन पर प्रसन्न थे और दक्षिणेश्वर आने पर अवकाश मिल जाने से वे कुछ देर हाजरा महाशय के साथ वार्तालाप करते थे। नरेन्द्रनाथ की प्रखर बुद्धि के सामने हाजरा महाशय का सिर झुक ही जाता था। वे विशेष मनोयोग से नरेन्द्रनाथ की बातें सुना करते थे। हाजरा महाशय के प्रति नरेन्द्रनाथ का ऐसा मेल-मिलाप देखकर हममें से कोई-कोई परिहास करते हुए कहते थे, 'हाजरा महाशय नरेन्द्रनाथ के 'फरेण्ड' (friend) हैं'।"[४]

श्रीरामकृष्ण से भेंट होने से पहले प्रताप का विवाह हो चुका था और यतीन्द्रनाथ नाम का उसके एक पुत्र भी था। प्रताप की धार्मिक प्रवृत्ति कभी-कभी उसे धार्मिक साधना के पथ पर चलने के लिए प्रेरित करती और त्याग की भावना उसके भीतर प्रबल हो उठती; ऐसे समय वह सन्त-महात्माओं का सत्संग ढूँढ़ता। पर उसका मन धार्मिक विचारों और सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओं की खिचड़ी था। सब कामों में भौतिक लाभ की ओर उसकी पैनी नजर रहती।

सन् १८७५[५] में या उससे पहले श्रीरामकृष्ण

४. स्वामी सारदानन्द : 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भाग ३, पृ. ११९ (रामकृष्ण मठ, नागपुर, प्रथम संस्करण)।

५. 'लीलाप्रसंग', भाग १, पृ. ४६८ के अनुसार श्रीरामकृष्ण नटवर गोस्वामी के यहाँ १८७९ ई. में गये थे; परन्तु 'वचनामृत', भाग २, पृ. ३१८ उस घटना को १८८० ई. में घटी मानता है। तथापि इसमें सहमति है कि दोनों के बीच पहली भेंट शिऊड़ ग्राम में श्रीरामकृष्ण के भानजे हृदयराम मुखर्जी के घर पर हुई थी।

फुलुई-श्यामबाजार (कामारपुकुर से अधिक दूर नहीं) नामक गाँव के पासवाले बेलडिहा (बेल्टे) गाँव के नटवर गोस्वामी[६] के यहाँ गये थे, तथा वहाँ सात दिन रहे थे। संकीर्तन के आनन्द के साथ-साथ श्रीरामकृष्ण को पुनः पुनः भावावस्था प्राप्त होते देख दिन-रात लोगों की भीड़ वहाँ इकट्ठी होने लगी। श्रीरामकृष्ण ने बाद में स्मरण करते हुए कहा था, "एक बार मैं हृदय के गाँव शिऊड़ गया था। वहीं से मुझे श्यामबाजार ले गये। गाँव में घुसने के पहले ही मुझे गौरांग के दर्शन हुए थे...। सात रोज दिन-रात में लोगों की भीड़ से घिरा रहा था। इतना आकर्षण! बस, भजन और कीर्तन, दिन-रात। लोग दीवालों पर कतार बाँधकर खड़े थे, यहाँ तक कि वृक्षों पर भी चढ़े हुए थे। मैं नटवर गोस्वामी के घर रुका था। दिन-रात लोग मुझे घेरे रहते। सुबह मैं एक बुनकर के घर भाग जाता, जिससे थोड़ा आराम मिल जाय। पर देखता वहाँ भी कुछ मिनटों में लोग इकट्ठे होने लगते।"

आनन्द के हाट से श्रीरामकृष्ण के स्वास्थ्य को खतरा देख हृदय उन्हें चुपचाप शिऊड़ ले आया। उनके वहाँ रहते समय प्रताप चन्द्र हाजरा उनके दर्शनों के लिए आया था, क्योंकि उनके गहरे आध्यात्मिक जीवन और समाधियों ने आसपास के क्षेत्र में काफी धूम मचा दी थी। लोगों में ऐसी अफवाह फैल गयी थी कि

६. नटवर गोस्वामी फुलुई-श्यामबाजार के बादवाले गाँव बेल्टे में रहते थे। ये एक प्रसिद्ध वैष्णव भक्त थे, जो श्रीरामकृष्ण से पहले मिल चुके थे। श्रीरामकृष्ण उनके घर में करीब एक सप्ताह रुके थे।

दक्षिणेश्वर के सन्त बार-बार मर जाते हैं और फिर उठ खड़े होते हैं। इस भेंट के समय प्रताप ने श्रीराम-कृष्ण से एक मजेदार प्रश्न पूछा था, "लगातार श्रीहरि को पुकारते रहने पर कई बार ऐसा भ्रम हो उठता है कि श्रीहरि की कुछ सुनने की शक्ति है भी या नहीं।" श्रीरामकृष्ण ने मुसकराकर उत्तर दिया था, "तुम इसका कारण समझ सकते हो। तुमने गन्ने के खेत में किसानों को पानी ले जाते हुए देखा होगा। पानी को बाहर बह जाने से रोकने के लिए खेतों में चारों ओर मेड़ बना दी जाती है, पर वह मिट्टी से बनी होती है और उसमें इधर-उधर कुछ छेद छूटे रहते हैं। किसान लोग खूब मेहनत करते हैं कि नाली द्वारा पानी भर जाय, पर वह छेदों में से इधर-उधर बह जाता है और अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँच पाता। कामनाएँ भी उन छेदों के समान हैं। इसीलिए तुम्हारी सब साधना और भगवान् को पुकारना व्यर्थ चला जाता है, क्योंकि काम-नाओं के छेद उन्हें बहा देते हैं। सांसारिक कामनाओं से यदि मन मुक्त हो तो स्वाभाविक ही भगवान् की ओर उन्मुख हो जाता है। भगवान् में श्रद्धा और भक्ति होने से झाड़ियों में से भी रास्ता निकल आता है।"[७] श्रीरामकृष्ण के इस छोटे से उत्तर ने तथा विषय को इतनी स्पष्टता से समझाने के ढंग ने प्रताप

---

७. 'पुँथि', पृ. ११८, में हम पाते हैं कि प्रताप इसी प्रकार का प्रश्न १९ सितम्बर, १८८४ को भी पूछ रहा है; और ठाकुर उसे सौ बार आश्वस्त करते हुए कहते हैं कि भगवान् लोगों की भक्ति की प्रार्थना सुनते हैं, यदि वह सच्ची और आन्तरिक हो। (देखें, 'वचनामृत', भाग २, पृ. ३१८।)

को, उसके अपने स्वभाव के बावजूद, प्रभावित कर दिया। फिर भी उसकी कथनी और करनी में जो अन्तर था, वह उसके व्यक्तित्व को गढ़ने के ठाकुर के प्रयास में बहुत बड़ी बाधा बना रहा। अपनी बात का बचाव करने के लिए कुतर्क करने की प्रवृत्ति उसमें इतनी दृढ़ थी कि श्रीरामकृष्ण अपने गृहस्थ-भक्तों को उसका उदाहरण दे उससे होनेवाले खतरों से आगाह कर दिया करते।

श्रीरामकृष्ण इस समय चवालीस वर्ष के थे। उनमें एक ऐसा दुर्निवार आकर्षण था, जिससे लोग उनकी श्रद्धा करते, उनसे प्रेम करते और अन्त में उन्हें अपने प्रिय और निकट के जन के रूप में स्वीकार कर लेते। उन्होंने तब तक उस अपूर्व अनुभव को प्राप्त कर लिया था, जिससे सभी धर्म दिव्य ज्ञान और प्रेम के सतरंगी वर्णपट के समान दिखायी देते। यह एक ऐसा सार्वभौम अनुभव था, जो किसी भी धार्मिक परम्परा में विरला ही होगा। वे अपने आपको जगन्माता की सन्तान समझते और वह जैसा कहलाती या करवाती, वे तत्काल वैसा ही कहते या करते। वे चुटकुलों के माध्यम से समझाते, जिससे बातें बड़ी सरल प्रतीत होतीं। उनके लिए प्रत्येक व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास अलग-अलग था। वे व्यक्ति में निहित आध्यात्मिक सम्भावनाओं या उसे हुई उपलब्धियों को अचूक रूप से भाँप लेते। तब वे उसे उसके अनुकूल साधना-पथ का निर्देश देते और अन्त में अनन्त दिव्यता तक पहुँचा देते।

श्रीरामकृष्ण के आध्यात्मिक निर्देश की एक विशेषता यह थी कि वे अपनी अनोखी सामर्थ्य द्वारा

साधक को उसकी दिव्यता के सम्बन्ध में संकीर्ण धारणाओं अथवा साम्प्रदायिक दुराग्रहों से मुक्त कर देते। साधकों के ग्रहण करने की और उसे सुरक्षित रखने की सामर्थ्य के अनुसार श्रीरामकृष्ण उन लोगों के भीतर अपने व्यक्तित्व में आप्लावित दिव्यता और आध्यात्मिकता को प्रवाहित कर सकते थे और ऐसा उन्होंने किया भी था। जो जहाँ होता, वहीं से उसे सहारा देकर वे आगे बढ़ा ले जाते। गुरु के रूप में वे एकदम शिष्य के स्तर तक उतर आते और अपने अनुभवों को उसके साथ बाँटते। वे हर शिष्य के साथ एक अलग गहरा सम्बन्ध बना लेते, जिसे जीवन पर्यन्त निभाते और शब्द, स्पर्श, इच्छा या मात्र दृष्टिपात से अथवा मुसकान से उसमें आध्यात्मिकता प्रवाहित कर देते। उनके सान्निध्य में प्रत्येक को एक अकथनीय आनन्द मिलता और धीरे-धीरे वह अपने भीतर शुरू हुई परिवर्तन की प्रक्रिया का अनुभव करने लगता।

प्रताप श्रीरामकृष्ण के घनिष्ठ सम्पर्क में उसकी उनके साथ शिऊड़ में हुई पहली भेंट के बाद आया। हृदय के अन्तिम रूप से दक्षिणेश्वर छोड़ देने के पहले प्रताप हाजरा वहाँ फुलुई-श्यामबाजार[८] के नटवर गोस्वामी के साथ आया था। यह निश्चय ही १२ जून, १८८१ से पहले की घटना है। श्रीरामकृष्ण ने दोनों का स्वागत किया। उन्होंने प्रताप को दक्षिणेश्वर में टिकने की स्वीकृति दे दी और उसकी अच्छी व्यवस्था करा दी। वे दूसरों से कहा करते, "प्रताप ऐसा आदमी नहीं है कि उसे हँसी में उड़ा दें। यदि यहाँ लोग बड़ी

८. 'पुँथि', पृ. २७६।

दरगाह देखते हैं, तो हाजरा छोटी दरगाह है।"

परन्तु श्रीरामकृष्ण-जैसे उच्च आध्यात्मिक गुरु मनुष्य क मन को पढ़ लेते हैं। उन्होंने उसी समय प्रताप की आध्यात्मिक स्थिति, उसके दोष और भविष्य की सम्भावनाओं को परख लिया था। बाद में दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण को यह कहते सुना गया था, "वह (प्रताप) अपनी भक्ति में जरूर दृढ़ है। थोड़ा-बहुत जप भी करता है, पर कभी-कभी उसका व्यवहार विचित्र होता है।" इससे लगभग विपरीत-सी बात उन्होंने नरेन्द्र से कही थी, जो प्रताप के प्रशंसक थे—"वह बड़ा दुष्ट है, धूर्त है, तुम उसे नहीं जानते।"[९]

प्रताप की माँ की लम्बी बीमारी के समय श्रीरामकृष्ण ने उस पर घर जाकर अपनी माँ की सेवा करने के लिए जोर डाला। प्रताप उससे नाखुश हुआ और घर जाने की बजाय सींथी, भटपारा और फिर बैद्यनाथ निकल गया। यह जानने पर श्रीरामकृष्ण रुष्ट हुए। भावावस्था में जगन्माता के साथ बालक की तरह अभिमान करते हुए कहने लगे, "इस तरह जंगली लोगों को तू यहाँ क्यों लाती है? (कुछ देर चुप रहने के बाद) मुझसे यह काम न होगा। एक सेर दूध में अधिक स अधिक आधा पाव या पाव भर जल हो—किन्तु ऐसा न होकर एक सेर दूध में पाँच सेर जल! चूल्हे में ईंधन ठूँसते हुए धुएँ से मेरी आँखें जली जा रही हैं। तेरी इच्छा हो तो तू भले ही ईंधन ठूँसती रहे। मुझसे यह काम न होगा। फिर कभी ऐसे लोगों को यहाँ न लाना।"[१०]

९. 'वचनामृत', भाग ३, पृ. १३५।
१०. 'लीलाप्रसंग', भाग २, पृ. ४०७।

हिसाबी वृत्तिवाला प्रताप अपने हर कदम, यहाँ तक कि धर्म के आचरण को भी, तौलकर रखता और तपस्या द्वारा किसी सिद्धि को पा लेने के चक्कर में रहता। इस प्रकार की प्रवृत्ति को त्यागने की श्रीरामकृष्ण की सलाह उसे स्वीकार्य न थी। यद्यपि प्रताप के प्रति श्रीरामकृष्ण की करुणा और सहानुभूति थी, फिर भी वे अपने युवक-शिष्यों को सावधान करते हुए कहते, "वह जो हाजरा है, वह बहुत हिसाबी दिमागवाला है; उसकी बात पर कोई ध्यान न देना।" यद्यपि ये दोनों महानुभाव इतने नजदीक, करीब दस गज की दूरी पर ही रहते थे, पर जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोणों में कोई मेल न था; इसके बावजूद उन दोनों के बीच सौहार्द का अभाव न था।

यह बात भी उतनी ही स्पष्ट है कि प्रताप ने भी दक्षिणेश्वर में शीघ्र अपना एक स्थान बना लिया था। अपने को ज्ञान-पथ का साधक दिखाते हुए वह जब-तब जोरों से 'सोऽहम्' उच्चारित करता रहता। वह काफी समय माला जपने में बिताता। उसके आचरण को देख श्रीरामकृष्ण ने एक बार कहा था, "अपनी सब साधना और जप के बावजूद हाजरा दलाल की भाँति कहीं भी पैसा कमाने के मौके को हाथ से जाने नहीं देता।" प्रताप पर करीब पन्द्रह सौ रुपये का ऋण था, जिससे वह बहुत चिन्तित रहता।

आदर्श के प्रति उसकी निष्ठा तो थी, पर वह अहंकारी था। उसने श्रीरामकृष्ण से कहा था, "अभी तो मैं तुम्हें नहीं सुहाता, परन्तु पीछे से मुझे खोजना

होगा।"[११] अपने इस दोष के कारण प्रताप किसी भी स्थान या परिवेश की गरिमा का ख्याल न रख पाता। अन्य भक्तों से बिलकुल विपरीत वह श्रीरामकृष्ण के द्वारा विकिरित प्रभाव से अछूता बना रहा। प्रताप की धारणा थी कि भगवान् उसे धन-दौलत देंगे, क्योंकि वह जप-ध्यान करता है। श्रीरामकृष्ण ने उसे कृपापूर्वक आश्वासन देते हुए एक दिन कहा था, "तुम जब एक दिन जप कर रहे थे, तब मैं जंगल से होकर आ रहा था। मैंने कहा—माँ, इसकी बुद्धि तो बड़ी हीन है, यह यहाँ आकर भी माला जप रहा है। जो कोई यहाँ आएगा, उसे तत्काल ही चैतन्य होगा। उसे माला जपना, यह सब इतना न करना होगा...।"[१२] पर प्रताप का आत्माभिमान और दर्प ऐसा फूला हुआ था कि वह श्रीरामकृष्ण के इस आश्वासन पर विश्वास करना तो दूर, उसे पसन्द तक न कर सका।

श्रीरामकृष्ण ने उसे उपदेश दिया था, "जिन लोगों में बाह्य शुचिता का फितूर होता है, वे ज्ञानलाभ नहीं करते। परम्परा का निर्वाह वहीं तक ठीक है, जहाँ तक वह आवश्यक है। अतिरेक तक मत जाओ।" श्रीरामकृष्ण के इस बहुमूल्य उपदेश के विपरीत प्रताप क्षुद्र आचार-विचारों का घोर समर्थक बन गया। वह दूसरों की, यहाँ तक कि श्रीरामकृष्ण की भी, निन्दा करता। कभी तो श्रीरामकृष्ण को महान् व्यक्ति समझता, परन्तु उसके तुरन्त बाद ही फिर उनकी आलोचना भी करता। दक्षिणेश्वर में जम जाने के

११. 'वचनामृत', भाग ३, पृ. १४३।
१२. 'वचनामृत', भाग २, पृ. ४१०।

बाद तो वह श्रीरामकृष्ण को भी उपदेश देने से नहीं चूकता। यह देख कि श्रीरामकृष्ण औपचारिक पूजा, माला फेरना, माथे पर चन्दन-तिलक लगाना आदि नहीं करते, प्रताप एक दिन उनसे बोला, "देखिए, यह उचित नहीं है। यदि आप ज्यादा दिन ऐसा करेंगे, तो लोग आपका अनादर करेंगे। कृपया कुछ कीजिए, माला ही जपिए, जैसा मैं करता हूँ,—और किसी बात के लिए नहीं तो आनेवाले दर्शनार्थियों के सन्तोष के लिए कीजिए। कितने लोग यहाँ आते हैं। यदि वे लोग आपको माला फेरते देखेंगे, तो यह तो सोचेंगे ही कि आखिर आपने कुछ साधना तो की है।" दिल खोलकर हँसते हुए श्रीरामकृष्ण ने लाटू, रामलाल, हरीश आदि अन्य लोगों को बुलाकर बतलाया कि प्रताप क्या कह रहा है।[१३] प्रताप को सुख-सुविधा प्रदान करने में श्रीरामकृष्ण के धीरज को शब्दों में बताना कठिन है। अपनी इतनी बुद्धिमता के बावजूद प्रताप को सन्त की उसके अपने प्रति करुणा रुचिकर न थी। ठाकुर को कभी लगता कि वह नुकसान पहुँचानेवाला कीड़ा है। कभी वह ठाकुर की उपस्थिति में विनम्र बन जाता, पर दूसरे ही क्षण फिर से अपने स्वभाव को प्राप्त हो जाता था।

(अगले अंक में समाप्य)

○

---

१३. चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय : 'श्रीश्रीलाटू महाराजेर स्मृतिकथा', (बंगला) (कलकत्ता, उद्बोधन कार्यालय, द्वितीय संस्करण), पृ. १०६।

# माँ के सान्निध्य में (५)

*स्वामी अरूपानन्द*

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी श्री माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में कार्यरत हैं।—स०)

### जयरामवाटी : २ जनवरी १९१०

आज माँ की जन्मतिथि है। कुछ दिन हुए, प्रबोध-बाबू यहाँ आये हैं। माँ की जन्मतिथि के उपलक्ष में ठाकुर को भोग देने के लिए उन्होंने मामा लोगों को पाँच रुपये दिया है। माँ ने मुझसे कहा, "तुम लोगों को और विशेष कुछ नहीं करना होगा। मैं एक नया वस्त्र पहनूँगी, ठाकुर को कुछ मिठाई आदि का भोग दिया जायगा और मैं बाद में प्रसाद ग्रहण करूँगी। बस इतना ही होगा।"

पूजा के बाद माँ अपने कमरे में तख्त पर दक्षिण ओर के दरवाजे के पास पैर झुलाकर बैठीं। उन्होंने नया वस्त्र धारण किया था। प्रबोधबाबू ने आकर माँ के चरणों में फूल देकर प्रणाम किया। मैं बराभदे में दरवाजे के पास खड़ा था। माँ ने मुझसे कहा, "क्या, तुम फूल नहीं चढ़ाओगे? लो, यह फूल लो!" मैंने फूल ले उनके चरणों में रखे। दोपहर में हम लोगों ने बढ़िया प्रसाद पाया। प्रबोधबाबू आफिस होने के कारण कलकत्ते को रवाना हुए, किन्तु तबियत खराब होने से मेरा जाना नहीं हुआ।

### जयरामवाटी : ५ जनवरी १९१०

बातचीत के प्रसंग में माँ ने कहा, "भगवान् को भला कौन बाँध सका है, बोलो तो। उन्होंने जब स्वयं

को पकड़ में आने दिया, तभी तो यशोदा उन्हें बाँध पायी थी और गोप-गोपीगण उन्हें पा सके थे।

"मन में कामना रहने से जीव का आवागमन बन्द नहीं होता। कामना के कारण ही जीव इस देह से उस देह में जाता है। सन्देश (मिठाई) खाने की थोड़ी-सी इच्छा बाकी रहने से भी पुनर्जन्म होता है। इसीलिए मठ में इतने प्रकार की चीजें लायी जाती हैं। कामना एक सूक्ष्म बीज के समान है। जिस प्रकार सरसों के दाने के आकार के एक वट-बीज से विशाल वटवृक्ष होता है, उसी प्रकार कामना के रहने से पुनर्जन्म होगा ही। यह मानो जीवात्मा को एक गिलाफ से निकालकर दूसरे गिलाफ में घुसाने के समान है। पूरी तरह से कामनाशून्य दो-एक व्यक्ति ही हो पाते हैं। यदि पूर्वजन्म के सत्कर्म बाकी हों, तो कामना के कारण पुनर्जन्म होने पर भी आध्यात्मिक चेतना पूरी तरह लुप्त नहीं होती।

"वृन्दावन में गोविन्दजी का एक पुजारी भगवान् के भोग को ले जाकर अपनी रखैल को खिलाता था। मरने के बाद इस पाप के कारण उसे प्रेतयोनि प्राप्त हुई। चूँकि उसने देव-सेवा की थी इसलिए इस सत्कर्म के फलस्वरूप वह एक दिन सबके सामने सशरीर उपस्थित हुआ। अपने सत्कर्मों के कारण ही उसका इस प्रकार प्रकट होना सम्भव हुआ। उसने सबको अपनी अधोगति का कारण बतलाया और उनसे कहा, 'तुम लोग मेरे उद्धार के लिए भगवान् के महोत्सव-कीर्तन आदि का आयोजन करो। उसी से मेरा उद्धार होगा'।"

मैं—महोत्सव-कीर्तन आदि से क्या उद्धार होता है ?

माँ—हाँ, वैष्णवों का उसी से होता है। वे लोग श्राद्धादि नहीं करते।

"जब पुरी में मैंने जगन्नाथ के दर्शन किये, तब यह देखकर कि इतने लोग जगन्नाथ का दर्शन-लाभ कर रहे हैं, मैं आनन्द से रोने लगी। मैं सोचने लगी, अहा, कितना अच्छा है, इतने सब लोग मुक्त हो जाएँगे। बाद में मैंने अनुभव किया कि नहीं, जो लोग वासना-शून्य हैं ऐसे ही दो-एक लोग मुक्त होंगे। योगेन से कहने पर उसने भी वही कहा कि माँ, जो लोग वासना-शून्य हैं, वे ही मुक्त होंगे।"*

एक दिन सवेरे माँ के कमरे के बरामदे में मुरमुरा खाते हुए मैंने पूछा, "माँ, बेलुड़ मठ में रहने पर क्या मुझे सन्यास लेना होगा ?" माँ ने कहा, "हाँ, बेटे, लेना होगा।"

मैं—माँ, संन्यास लेने से बड़ा अभिमान हो जाता है।

माँ—हाँ, बड़ा अभिमान हो सकता है। संन्यासी सोचने लगता है—देखो, उसने मुझे प्रणाम नहीं किया,

* योगेन-माँ ने कहा था, "एक दिन जगन्नाथ मन्दिर के भीतर लक्ष्मी मन्दिर में माँ और मैं आजू-बाजू बैठी ध्यान कर रही थीं। मैं मन ही मन सोचने लगी—अहा, इतने सब लोग रथयात्रा के समय जगन्नाथ का दर्शन करते हैं, अच्छा है सब मुक्त हो जाएँगे। इतने में सुनती हूँ मानो कोई कह रहा है, 'नहीं, जो वासना-शून्य हैं, वे ही मुक्त होंगे।' मैंने माँ से जब यह बात कही, तो माँ ने कहा, 'योगेन, मेरे मन में भी उस समय यही विचार उठा था, तब मैंने भी यही उत्तर सुना।"

मुझे सम्मान नहीं दिया, इत्यादि। इसलिए उसकी अपेक्षा (अपने सफेद वस्त्र की ओर इंगित करते हुए) यही अच्छा है (अर्थात् आन्तरिक त्याग)। वृन्दावन के गौर शिरोमणि* ने वृद्धावस्था में संन्यास लिया था, जब इन्द्रिय आदि का प्रभाव कम हो गया था। रूप का अभिमान, गुण का अभिमान, विद्या तथा साधुत्व का अभिमान क्या सहज ही जाता है, बेटा?

वे मुझे त्याग के जीवन के लिए प्रस्तुत होने के लिए कहने लगीं, "तुम घर जाकर एक बार उन लोगों (भाइयों) से कह आना, 'मैं नौकरी आदि नहीं कर पाऊँगा। माँ तो अब रहीं नहीं, जो मैं किसी की दासता करूँ। मैं वह सब नहीं कर पाऊँगा। तुम लोग घर-संसार करो और आनन्द से रहो।'"

साधु-जीवन में खाने-पीने की कठोरता को लेकर बात उठी। माँ ने कहा, "मठ में लड़के लोग बहुत कष्ट उठा रहे हैं—न ठीक से खाना हो रहा है, न पीना। वह सब मुझे अच्छा नहीं लगता। योगीन (स्वामी योगानन्द) का शरीर तो कठोरता के कारण ही इतना कष्ट पाकर गया।"

रात में माँ के साथ बातचीत हो रही थी। मैंने कहा, "माँ, भगवान् की कृपा तो जब कभी भी हो सकती है, वह समय की अपेक्षा नहीं रखती।"

माँ ने उत्तर दिया, "वह ठीक है, परन्तु जेठ के महीने का आम जैसा मीठा होता है, वैसा क्या दूसरे महीनों का आम होता है? मनुष्य उसे असमय में

* वे एक श्रेष्ठ वैष्णव साधु थे। उन्होंने कालाबाबू के कुंज में श्री माँ के दर्शन किये थे।

फलवाना चाहता है। देखो न, आजकल आश्विन के महीने में कटहल होता है, आम होता है, किन्तु वह क्या समय में होनेवाले फल के समान (मीठा) हो पाता है? ईश्वर-लाभ के पथ के बारे में यही बात है। इस जन्म में हो सकता है तुमने जप-तप किया, अगले जन्म में हो सकता है भाव घनीभूत हो, उसके बाद के जन्म में हो सकता है और प्रगति हो। इसी प्रकार सब होता है।"

किसी को अकस्मात् आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त हो जाने के सम्बन्ध में माँ ने कहा, "भगवान् का स्वभाव शिशु के स्वभाव के समान है। एक व्यक्ति चाहता नहीं, पर वे उसे दे देते हैं, और जो दूसरा चाहता है, उसे नहीं देते। वे एकदम मनमौजी हैं!"

एक दिन सबेरे माँ बरामदे में बैठी पान बना रही थीं। मैंने कहा, "माँ, बाद में लोग तुम्हें पाने के लिए कितनी साधनाएँ करेंगे।"

माँ हँसकर बोलीं, "कहते क्या हो? सब कहेंगे—माँ को वात की बीमारी थी, इस प्रकार लँगड़ा-लँगड़ाकर चलती थीं।"

मैं—तुम भले ही वैसा कहो।

माँ—यह ठीक है। तभी तो ठाकुर जब काशीपुर में बीमार थे, कहते थे, "जो लोग कुछ पाने की आशा लेकर आये थे, वे सब यह कहकर चले गये कि 'वे तो अवतार हैं, उनको फिर बीमारी कैसे? यह सब माया है।' किन्तु जो मेरे 'अपने' जन हैं, मेरे कष्ट को देख उनकी छाती फटी जा रही है।" एक दिन बुखार में मैं प्रलाप कर रही थी। यह देख कुसुम ने जाकर गोलाप

से कहा, "गोलाप दीदी, आकर देखो, माँ प्रलाप कर रही हैं।" गोलाप ने कहा, "माँ उसी प्रकार बोलती रहती हैं।"

"नहीं, आकर देखो सचमुच में ऐसा कर रही हैं।"

"नहीं, वह कुछ नहीं है।"

अन्त में कुसुम ने जाकर आशु को पुकारा। सबने आकर देखा, मुझे बड़ा तेज बुखार था।

## उद्बोधन, कलकत्ता

मन्त्र लेने से एक दिन पूर्व मैंने माँ से कहा, "माँ, मैं मन्त्र लूँगा।" माँ ने कहा, "तुमने अब तक मन्त्र नहीं लिया है?" मेरे 'ना' कहने पर वे बोलीं, "मैंने तो सोचा था कि तुम शायद मन्त्र ले चुके हो।" मन्त्र-दीक्षा के बाद आशीर्वाद देते हुए बोलीं, "भगवान् के मन्त्र का जप करके तुम्हारा देह-मन शुद्ध हो।"

मैं---उँगली से मन्त्र जपने की क्या आवश्यकता है? क्या मन ही मन जप करने से नहीं होगा?

माँ---भगवान् ने उँगली दी है, अतः उसके द्वारा मन्त्र-जप करके उसकी सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए।

## २५ सितम्बर १९१० : उद्बोधन, ठाकुरघर

मैं---माँ, यदि ईश्वर कहकर कोई हैं, तो संसार में इतना दुःख-कष्ट क्यों है? वे क्या यह सब देखते नहीं हैं? इन सबको दूर करने की क्या उनकी क्षमता नहीं है?

माँ---सृष्टि ही सुख-दुःखमय है। दुःख नहीं रहने से क्या सुख समझ में आता है? और सबका सुखी होना भला कैसे सम्भव हो? सीता ने राम से कहा

था, 'तुम सबका दुःख-कष्ट दूर क्यों नहीं कर देते? राज्य की जितनी प्रजा है, सबको सुखी बना दो। तुम तो इच्छामात्र से यह कर सकते हो।' राम ने कहा, 'सभी क्या एक साथ सुखी हो सकते हैं?'

'क्यों नहीं, तुम्हारी इच्छा होने से ही हो सकता है। जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो वह राज्य-भाण्डार से दिला दो।'

'अच्छा, तुम्हारे कहे अनुसार ही होगा।'

"तब राम ने लक्ष्मण को बुलाकर कहा, 'जाओ, राज्य में सभी को जता दो कि जिसको जो अभाव हो, वह इच्छानुसार राज्य-भाण्डार से पा ले।' सभी ने समाचार पा, आकर अपने-अपने दुःख-कष्ट जनाये। राज्यकोष जनता के लिए खोल दिया गया। सभी आनन्द से दिन बिताने लगे। राम की ऐसी माया कि जिस प्रासाद में राम-सीता रहते थे, उसकी छत से पानी चूने लगा। उसकी मरम्मत करवाने राम ने लोगों को बुलवाने भेजा! पर लोग कहाँ! राज्य में कोई कुली-मजदूर नहीं रह गया था। कुली-मिस्त्री-बढ़ई आदि के अभाव से लोगों के घर-दरवाजे सब नष्ट होते जा रहे थे और सारा काम-काज ठप्प हो गया था। तब निरुपाय हो सीता ने राम से कहा, 'छत के चूने से यह भींगने का कष्ट अब सहा नहीं जाता, पहले जैसा था, तुम वैसा ही कर दो। उससे फिर कुली-मजदूर सब मिलेंगे। मुझे मालूम हो गया कि सभी का एक साथ सुखी होना सम्भव नहीं है।' राम ने कहा, 'तथास्तु' और देखते ही देखते सब यथावत् हो गये। कुली, मजदूर, मिस्त्री सब मिलने लगे। सीता ने कहा, 'प्रभो,

यह सृष्टि तुम्हारी अद्भुत लीला है।'

"कोई सदा-सर्वदा के लिए दुःखी नहीं होगा। किसी के भी सभी जन्म दुःख में नहीं कटेंगे। जैसे कर्म होते हैं, उनके अनुरूप ही फल मिलता है तथा उन्हीं के अनुसार, अवसर प्राप्त होते हैं।"

मैं--क्या सब कर्म के अनुसार ही होता है?

माँ--कर्म नहीं तो और क्या है? देखते नहीं, मेहतर विष्ठा का भार ढोता है।

मैं--यह अच्छे-बुरे कर्म की प्रवृत्ति पहले कहाँ से आती है? तुम कहोगी, इस जन्म की प्रवृत्ति पूर्वजन्म से तथा पूर्वजन्म की उसके पूर्वजन्म से हुई है, परन्तु इसका प्रारम्भ कहाँ से हुआ?

माँ--ईश्वर की इच्छा बिना कुछ भी होना सम्भव नहीं है, उनकी इच्छा बिना तिनके का एक टुकड़ा भी नहीं हिल पाता। जब जीव के सुदिन होते हैं, तो वह ईश्वर के ध्यान-चिन्तन में प्रवृत्त होता है, किन्तु जब उसके बुरे दिन आते हैं, तो वह कुप्रवृत्ति और कुसंग में लिप्त होता है। ईश्वर की जैसी इच्छा होती है, समय पर वैसा ही सब होता है। वे ही मनुष्य के भीतर से सब कार्य करते हैं। नरेन (विवेकानन्द) में क्या क्षमता थी कि वह यह सब कार्य कर सकता? वह यह सब करने में इसीलिए सफल हुआ कि ईश्वर ने उसके माध्यम से कार्य किया। ठाकुर क्या करनेवाले हैं यह उनके द्वारा पहले से ही निश्चित है। पर यदि कोई उनके प्रति सर्वतोभावेन समर्पण करता है, तो वे उसका सब कुछ ठीक कर देते हैं। व्यक्ति को सब कुछ सहन करना चाहिए, क्योंकि कर्म के अनुसार ही सब कुछ का

निर्णय होता है। फिर हमारे वर्तमान कर्मों के द्वारा पहले के किये गये कर्मों के फल को खण्डित भी किया जा सकता है।

मैं—क्या कर्म के द्वारा कर्म का खण्डन हो सकता है?

माँ—क्यों नहीं? यदि तुम सत्कर्म करते हो, तो उससे तुम्हारे पूर्व के पाप-ताप कट जाएँगे। ध्यान, जप तथा ईश्वर-चिन्तन से पहले के संचित पाप कट जाते हैं।

मैंने सुना था कि मिर्जापुर स्ट्रीट में एक लड़के पर प्रेतात्मा का आवेश होता है। उद्बोधन से कुछ लोग पिछले दिन उसे देखने गये थे। उसी की बात उठी। मैंने माँ से पूछा, "अच्छा माँ, प्रेत-शरीर में कितने दिनों तक रहना पड़ता है?"

माँ—उन्नत व्यक्तियों को छोड़ और सभी को एक वर्ष तक प्रेतयोनि में रहना पड़ता है। इसके बाद उनके उद्देश्य से गया में पिण्डदान अथवा महोत्सव आदि करने से वह प्रेतयोनि से मुक्ति पा भगवान् के पास जाता है अथवा अन्य लोकों में जाकर सुख-दुःख आदि का भोग करता है। फिर समय आने पर उसका वासना के अनुरूप जन्म होता है। कोई-कोई वहीं से मुक्तिलाभ करते हैं। परन्तु यदि व्यक्ति ने इस जन्म में सत्कर्म किया हो, तो प्रेतयोनि में भी उसकी आध्यात्मिक चेतना पूरी तरह जाती नहीं।

माँ ने यहाँ पर वृन्दावन के गोविन्दजी के वैष्णव पुजारी-प्रेत की बात कही।

मैं—गया में पिण्ड देने से ही क्या जीव भगवान्

के पास जाता है ?

माँ--हाँ, जाता है। *

मैं--तब फिर साधन-भजन की क्या आवश्यकता है ?

माँ--उनके पास से वह फिर अपनी कामना-वासना के अनुसार पृथ्वी में आकर जन्म ग्रहण करता है। यहाँ मनुष्य-योनि में जन्म ग्रहण कर कोई मुक्ति-लाभ करता है, तो कोई निम्न-योनियों में जाता है। सृष्टि एक चक्र के समान घूम रही है। जिस जन्म में मन वासनाशून्य होता है, वही अन्तिम जन्म है।

मैं--तुमने यह जो कहा कि जीव भगवान् के पास

---

*इस प्रसंग में मुझे एक घटना का स्मरण हो आ रहा है। सन् १९१० में उस समय माँ काशी में थीं। उनके लौटने से दो-एक दिन पहले मैं पितरों को पिण्डदान देने के लिए गया को रवाना हुआ। यात्रा करने के समय मैंने माँ से कहा था, "माँ, देखना जिससे उनकी सद्गति हो।" जिस दिन मैंने गया में पिण्डदान किया, उसी दिन रात में माँ के भतीजे भूदेव ने, जो माँ के साथ काशी में था, स्वप्न देखा कि माँ पंचपात्र लेकर जप करने बैठी हैं और बहुत से लोग उनके चारों ओर आकर कह रहे हैं, "मेरा उद्धार कीजिए, मेरा उद्धार कीजिए।" माँ पंचपात्र से शान्तिजल लेकर उनके शरीर पर छिडक रही हैं और कह रही हैं, "जा, तेरा उद्धार हो जा।" और वे सब आनन्द से चले जा रहे हैं। अन्त में एक और व्यक्ति आया। माँ ने कहा, "अब मुझसे नहीं होगा।" उसके बहुत प्रार्थना करने पर माँ ने उस पर भी कृपा की। दूसरे दिन भूदेव ने माँ से स्वप्न की यह घटना कह सुनायी। माँ ने सुनकर कहा था, "यह रा--गया में पिण्डदान करने गया है न, इसीलिए इतने लोगों का उद्धार हुआ है।" सचमुच में गया में पितरों को पिण्डदान करने के पश्चात् मैंने भावावेग में, जिनका भी नाम मुझे याद हो आया, प्रत्येक के नाम से पिण्डदान किया था और सबके उद्धार की कामना की थी।

जाता है, तो क्या उसे कोई आकर ले जाता है, अथवा वह स्वयं ही जाता है?

माँ--नहीं, वह स्वयं ही जाता है। सूक्ष्म शरीर तो वायु द्वारा निर्मित शरीर के समान है।

मैं—जिन लोगों का गया में पिण्डदान आदि नहीं होता, उनकी क्या गति होती है?

माँ—उनके वंश में जब तक कोई भाग्यवान् पैदा होकर गया में पिण्डदान नहीं करता अथवा और्ध्व-दैहिक क्रियादि नहीं करता, तब तक उन्हें प्रेतयोनि में रहना होता है।

मैं--अच्छा, ये जो भूत-प्रेत हैं, वे सब क्या शिव के सेवक भूत-प्रेत हैं अथवा ये वे लोग हैं, जो मर चुके हैं?

माँ--नहीं, ये लोग वे हैं, जो मर चुके हैं। शिव के सेवक भूत-प्रेत अलग हैं। व्यक्ति को बहुत सावधानी से चलना चाहिए। प्रत्यक कर्म ही फल देता है। किसी को कष्ट देना, किसी के प्रति कटु वचन कहना अच्छा नहीं है।

मैं--माँ, नीम के पेड़ में आम नहीं फलता, न ही आम के पेड़ में नीम फलता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने किये का फल पाता है।

माँ--बेटा, तुमने ठीक ही कहा। समय होने पर ईश्वर-फीश्वर कुछ नहीं रहता। ज्ञान होने पर मनुष्य देखता है कि देवी-देवता सभी माया हैं। काल में सब प्रकट होते हैं और काल में ही विलीन हो जाते हैं।

○

(क्रमशः)

# ज्ञानप्राप्ति का उपाय

## (गीताध्याय ४, श्लोक ३९-४२)

### स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।३९।।
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।४०।।
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।।४१।।
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।४२।।

श्रद्धावान् (श्रद्धा से युक्त पुरुष) तत्परः (लगनशील) संयतेन्द्रियः (जितेन्द्रिय) ज्ञानं (ज्ञान) लभते (प्राप्त करता है) ज्ञानं (ज्ञान को) लब्ध्वा (प्राप्त कर) अचिरेण (तत्क्षण) परां (परम) शान्तिम् (शान्ति को) अधिगच्छति (प्राप्त हो जाता है)।

"श्रद्धावान्, लगनशील और जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान की उपलब्धि करता है तथा ज्ञान को उपलब्ध होकर वह तत्काल (मोक्षरूप) परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।"

अज्ञः (अज्ञानी) च (और) अश्रद्दधानः (श्रद्धारहित) च (और) संशयात्मा (सन्देह करनेवाला पुरुष) विनश्यति (विनष्ट हो जाता है) संशयात्मनः (सन्देह करनेवाले के लिए) न (न) अयं (यह) लोकः (लोक) न (न) परः (परलोक) न (न) सुखम् (सुख) अस्ति (है)।

"(भगवत्-विषय से विमुख) अज्ञानी, (गुरु और शास्त्र-वचनों के प्रति) श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष (परमार्थ के लिए)

विनष्ट हो जाता है। सन्देह करनेवाले के लिए न तो यह लोक है, न परलोक और न सुख ही।"

धनंजय (हे धनंजय) योगसंन्यस्तकर्माणं (योग द्वारा कर्मों का संन्यास कर दिया है जिसने) ज्ञानसंछिन्नसंशयम् (ज्ञान द्वारा समस्त संशय नष्ट हो गये हैं जिसके ऐसे) आत्मवन्तं (आत्मवशी पुरुष को) कर्माणि (कर्म) न (नहीं) निबध्नन्ति (बाँधते हैं)।

"हे धनंजय, जिसने योग का सहारा लेकर अपने (सम्पूर्ण) कर्मों का संन्यास कर दिया है, जिसके (सारे) संशय ज्ञान के द्वारा नष्ट हो चुके हैं, ऐसे आत्मवशी पुरुष को कर्म नहीं बाँधते हैं।"

तस्मात् (इसलिए) भारत (हे भारत) योगम् (योग में) आतिष्ठ (स्थित हो) [तथा] अज्ञानसंभूतं (अज्ञान से उत्पन्न हुए) हृत्स्थम् (हृदय में स्थित) एनम् (इस) आत्मनः (अपने) संशयं (संशय को) ज्ञानासिना (ज्ञानरूप तलवार द्वारा) छित्त्वा (काटकर) उत्तिष्ठ (खड़े हो जा)।

"इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन, तू हृदय में स्थित अपने इस अज्ञानजनित संशय का विवेकज्ञानरूप तलवार के द्वारा छेदन करके योग में स्थित हो जा और (युद्ध के लिए) खड़े हो जा।"

पूर्व के श्लोकों में ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता निरूपित कर ज्ञान की प्रशंसा की गयी है, अब यहाँ पर ३९वें श्लोक में ज्ञान को पाने का उपाय बताया जा रहा है। वैसे तो इस अध्याय के ३४वें श्लोक में भी ज्ञानप्राप्ति का उपाय वर्णित है, जहाँ कहा है कि ज्ञानी को प्रणिपात, उससे परिप्रश्न और उसकी सेवा करके तत्त्व को जान लेना चाहिए, पर प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा---ये ज्ञान-प्राप्ति के बहिरंग साधन हैं। यहाँ पर अन्तरंग साधन बताते हुए कह रहे हैं---श्रद्धा, लगन और इन्द्रिय-निग्रह।'

मात्र वहिरंग साधन हमारे जीवन में ज्ञान की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता। आचार्य शंकर यहाँ पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—'प्रणिपातादिः तु बाह्यः अनैकान्तिकः अपि भवति मायावित्वादिसंभवाद् न तु तत् श्रद्धावत्त्वादौ इति एकान्ततो ज्ञानलब्ध्युपाय':—अर्थात् 'जो दण्डवत्-प्रणाम आदि उपाय हैं, वे तो बाह्य हैं और कपटी मनुष्य द्वारा भी किये जा सकते हैं, इसलिए वे (ज्ञानरूप फल उत्पन्न करने में) अनिश्चित भी हो सकते हैं। परन्तु श्रद्धालुता आदि उपायों में कपट नहीं चल सकता, इसलिए ये निश्चयरूप से ज्ञानप्राप्ति के उपाय हैं।'

ज्ञानप्राप्ति में प्रमुख बाधा है संशय; जब तक उसका नाश नहीं होता है, तब तक हमारा जीवन ज्ञान से उद्भासित नहीं हो सकता। वैसे संशय-नाश और ज्ञान-लाभ अन्यो-न्याश्रित हैं—एक के द्वारा दूसरे की सिद्धि होती है। संशय का नाश होने पर ज्ञान-लाभ होता है और, जैसा कि 'मुण्डकोपनिषद्' में कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।२/२/८

—कार्य और कारणस्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तम को तत्त्व से जान लेने पर जीव के हृदय की गाँठ खुल जाती है और सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं। इससे प्रश्न उठ सकता है कि पहले संशय-नाश होता है, तब ज्ञान-लाभ होता है अथवा ज्ञान-लाभ के पश्चात् संशय-नाश होता है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि ज्ञान तो मनुष्य का स्वरूप है; अज्ञान, अविवेक, संशय ये सब उस स्वरूप को ढके रहते हैं। जब संशयादि का यह

आवरण कट जाता है, तब ज्ञान जो पहले से ही मनुष्य में विद्यमान है पर छिपा हुआ है, प्रकट हो जाता है। स्वामी विवेकानन्द की 'धर्म' शब्द की व्याख्या इस सन्दर्भ में चिन्तनीय है। वे कहते हैं—'Religion is the manifestation of the divinity already in man'—'मनुष्य में पहले से विद्यमान दिव्यत्व की अभिव्यक्ति को धर्म कहते हैं।'

फिर, हम इस बात को एक दूसरे ढंग से भी समझ सकते हैं। ज्ञान की दो स्थितियाँ हैं—एक साधनात्मक और दूसरी सिद्ध्यात्मक। एक है साधन-ज्ञान और दूसरा है सिद्ध-ज्ञान। साधन-ज्ञान का तात्पर्य है विवेक-विचार, स्वाध्याय-शास्त्रचर्चा, श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि और सिद्ध-ज्ञान का तात्पर्य है ज्ञानोपलब्धि, आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, आत्मानुभूति, परम शान्ति या मोक्ष की अवस्था आदि। जहाँ पर कहा कि ज्ञान के द्वारा संशय का नाश करो, वहाँ ज्ञान से हमें साधन-ज्ञान समझना चाहिए। और जहाँ पर बताया कि ज्ञान-लाभ से संशय कट जाते हैं, वहाँ पर ज्ञान से हमें सिद्ध-ज्ञान समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि साधन-ज्ञान के द्वारा संशय को नष्ट करते हुए सिद्ध-ज्ञान की उपलब्धि करना ही जीवन का लक्ष्य है।

इस विवेचन से अब हम ऊपर के श्लोकों का मर्म अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे। ३९वें श्लोक के पूर्वार्ध में ज्ञानप्राप्ति का उपाय बताते हुए कहते हैं—'श्रद्धा से युक्त, लगनशील और संयमी व्यक्ति ज्ञानलाभ करता है।' यहाँ पर श्रद्धा, लगन यानी निष्ठा

और इन्द्रिय-निग्रह को ज्ञानप्राप्ति के उपाय के तीन चरण बताये गये हैं। हमने कहा कि ३४ व श्लोक में ज्ञानप्राप्ति का बहिरंग साधन प्रदर्शित हुआ है। प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा के माध्यम से प्रत्यक्ष ज्ञान-लाभ की बात नहीं कही गयी है। वहाँ बस यही कहा है कि इनके द्वारा सन्तुष्ट होकर ज्ञानीजन साधक को ज्ञान का उपदेश करेंगे। अर्थात् प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा उपदेश देने हेतु गुरु को उन्मुख करने के साधन हैं। पर मात्र आचार्य का उपदेश सुनने से किसी को ज्ञान-लाभ नहीं हो जाता। जब साधक ने बहिरंग साधन के द्वारा आचार्य को प्रसन्न कर उनसे ज्ञान का उपदेश प्राप्त कर लिया, तब उसे अब चाहिए कि वह उस ज्ञान को 'जान' ले यानी ज्ञान को अपना बना ले। हम ३५ वें श्लोक के 'यज्ज्ञात्वा' पद की व्याख्या में इस पर विवेचन कर चुके हैं।

अब प्रश्न उठता है कि हम गुरुप्रदत्त ज्ञान को अपना कैसे बनाएँ? इसका उत्तर ३९वें श्लोक के पूर्वार्ध में दिया गया है। श्रद्धा, लगन और इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा हम इस गुरूपदिष्ट ज्ञान की अपने तई अनुभूति कर सकते हैं। 'श्रद्धा' अन्त:करण की उस वृत्ति का नाम है, जो मनुष्य में स्वाभाविक रूप से विद्यमान दोषदर्शन की प्रवृत्ति को रोकती है। यदि मैं किसी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा रखता हूँ, तो उसमें दोष देखने की वृत्ति मुझमें कभी नहीं उठेगी। गुरु ने, आचार्य ने मुझे जिस ज्ञान का उपदेश दिया, उसके प्रति भी मुझे श्रद्धा होनी चाहिए। कभी-कभी देखा जाता है कि व्यक्ति की किसी के प्रति तो श्रद्धा होती है, पर श्रद्धास्पद जो

कह रहा है, उसमें उसकी उतनी आस्था नहीं जम पाती।

तब मैं उत्तरकाशी में निवास कर रहा था। पास की कुटिया में एक साधक रहता था। उससे मेरी मैत्री हो गयी। वह अपने गुरु का अनुगत भक्त था। गुरु के निर्देश पर वहाँ साधना करने के लिए आया हुआ था। गुरु के प्रति तो उसकी अपार श्रद्धा थी, पर गुरु ने उसके प्रति जो उपदेश के वचन कहकर उसे साधना के लिए भेजा था, उस पर उसकी आस्था जम नहीं पा रही थी। फलतः साधना के फल के सम्बन्ध में उसका अन्तःकरण संशयग्रस्त था।

इसीलिए हमने कहा कि श्रद्धा गुरु और उनके वचन दोनों पर होनी चाहिए, तभी साधना की प्रेरणा मिलती है। जिस व्यक्ति में गुरु और उनके बताये मार्ग पर श्रद्धा है, वह 'श्रद्धावान्' कहलाता है। पर मात्र श्रद्धावान् होने से काम नहीं बनता। व्यक्ति को 'तत्पर'—लगनशील—होना चाहिए। साधना के प्रति उसकी निष्ठा होनी चाहिए। श्रद्धा होने के बावजूद यदि उसमें साधना के लिए तत्परता न हो, तो सिद्धि दूर ही रहेगी। कुछ साधक श्रद्धावान् तो होते हैं, पर उनमें साधना के लिए उत्साह नहीं होता, वे आलसी और प्रमादी होते हैं। श्रीरामकृष्ण अपने पास रहने-वाले युवक-साधकों को ब्राह्ममुहूर्त में उठा देते थे, रात में उन्हें भोजन अल्प मात्रा में करने के लिए कहते थे, जिससे वे साधना के लिए समय पर उठ सकें। उन्होंने अपने अन्तरंग युवक-शिष्यों को इसी प्रकार साधना के लिए तत्पर बनाया था।

ठीक है, व्यक्ति में श्रद्धा है और तत्परता भी,

पर यदि उसकी इन्द्रियाँ वश में न हों, तब भी वह लक्ष्य से दूर ही रहेगा। इन्द्रियों का असंयम मनुष्य को विषयों में फँसा देता है, जिससे उसकी साधना की तत्परता धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है। साधना का तात्पर्य है अन्तर्मुखीनता का अभ्यास और इन्द्रिय-भोग मनुष्य को बहिर्मुखी बनाते हैं। इसीलिए अन्तरंग साधन के तीसरे चरण के रूप में कहा 'विजितेन्द्रियः'—साधक को संयमी होना चाहिए, उसे अपनी इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए। इन्द्रिय-भोग घड़े के छेद के समान हैं, जो घड़े को जल से नहीं भरने देते, फिर कितना भी पानी उसमें क्यों न भरा जाय। इसी प्रकार हममें भले ही बहुत श्रद्धा हो और साधना के लिए लगन भी बहुत हो, पर यदि हममें इन्द्रिय-निग्रह न हो, तो साधना का सारा जल बह निकलेगा। पर जब ये तीनों अन्तरंग साधन मनुष्य के जीवन में इकट्ठे होते हैं, तब वह ज्ञान-लाभ करने में समर्थ होता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ज्ञान-लाभ की कोई अवधि है? इसका उत्तर है कि श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रिय-निग्रह की मात्रा पर वह अवधि निर्भर करती है। ३८वें श्लोक में 'तत् कालेन विदन्ति' (उस ज्ञान को समय आने पर पा लेता है) जो कहा है, उसके विवेचन में हमने कहा था कि ज्ञान-प्राप्ति में काल का गणित नहीं चलता, वह तो साधक की साधना की तीव्रता पर निर्भर रहती है। पतंजलि मुनि अपने 'योगसूत्र' में लिखते हैं—'तीव्रसंवेगानामासन्नः' (१/२१) 'मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः' (१/२२), अर्थात् 'जिनके साधन की गति तीव्र है, उन्हें शीघ्र

सिद्धि मिल जाती है। साधन की हल्की, मध्यम और उच्च मात्रा के अनुसार योगियों की सिद्धि में भी भेद हो जाता है।' तात्पर्य यह है कि यदि व्यक्ति में श्रद्धा, लगन और इन्द्रिय-निग्रह तीव्र मात्रा में हैं, तो वह अविलम्ब ज्ञान-लाभ करने में समर्थ होगा।

३९ वें श्लोक के उत्तरार्ध में ज्ञान-लाभ का फल बताते हुए कहते हैं कि वह तत्काल परम शान्ति को—मोक्ष को—प्राप्त हो जाएगा। परम शान्ति ज्ञान-लाभ का फल भी है और कसौटी भी। कोई यदि परखना चाहे कि उसे सही-सही ज्ञान-लाभ हुआ है या नहीं, तो वह देखे कि उसका चित्त प्रशान्त हुआ है या नहीं। चित्त का क्षोभ वासना-कामना से होता है और वासना-कामना अज्ञान से उपजती है। अन्तःकरण में ज्ञान के आने पर वासना-कामना दूर होती है और चित्त शान्त हो जाता है। इसीलिए हमने परम शान्ति को ज्ञान-लाभ की कसौटी कहा है।

शान्ति के लिए 'पराम्' विशेषण देकर यह सूचित किया कि यह आने-जानेवाली शान्ति नहीं है। सामान्यतः आज हम जिस शान्ति का अनुभव करते हैं, वह क्षणिक होती है, पर ज्ञान-लाभ से मिली शान्ति कभी चलायमान नहीं होती। 'अचिरेण' कहकर यह सूचित किया कि ज्ञान-लाभ और परम शान्ति की प्राप्ति के बीच काल का अन्तर नहीं है। हजार साल के अँधेरे कमरे में दियासलाई जलाने से जैसे अन्धकार तत्काल दूर हो जाता है, वैसे ही ज्ञान-लाभ से अन्तःकरण तत्काल परम शान्ति का उपभोग करने लगता है। यही ज्ञान की महत्ता है।

४० वें श्लोक में ज्ञान और श्रद्धा के नहीं रहने का फल बताते हैं। ३९वें श्लोक में ज्ञान का फल बतलाते हुए ज्ञान का महत्त्व प्रदर्शित किया, अब यहाँ ४० वें श्लोक में ज्ञान के अभाव का फल बताते हुए भी ज्ञान का ही महत्त्व प्रकारान्तर से रख रहे हैं। कहते हैं कि अज्ञ और श्रद्धारहित व्यक्ति संशय का शिकार हो परमार्थ के पथ से भ्रष्ट हो जाता है। 'अज्ञ' वह है, जिसमें सत्य-असत्य और आत्म-अनात्म पदार्थों का विवेचन करने की शक्ति नहीं है, इसलिए जो एवं-विध विवेक-ज्ञान से रहित होने के कारण कर्तव्य-अकर्तव्य आदि का निर्णय नहीं कर सकता। 'अश्रद्दधानः' (श्रद्धारहित) वह है, जिसकी ईश्वर और परलोक में, उनकी प्राप्ति के उपाय बतलानेवाले शास्त्रों में, महा-पुरुषों में और उनके द्वारा बतलाये हुए साधनों में, एवं उनके फल में श्रद्धा नहीं है। 'संशयात्मा' वह है, जो ईश्वर और परलोक के विषय में या अन्य किसी भी विषय में कुछ भी निश्चय नहीं कर सकता तथा हर विषय में संशययुक्त बना रहता है।

तो, यहाँ पर कहा कि जो ज्ञान और श्रद्धा से हीन है तथा साथ ही संशयी है, ऐसा व्यक्ति विनष्ट हो जाता है। श्लोक के उत्तरार्ध में विनष्ट होने का अर्थ बतलाते हुए कहा है कि 'संशयी व्यक्ति के लिए न तो यह लोक है, न परलोक है और न सुख है। संशय करने-वाला व्यक्ति न तो इस लोक में प्रतिष्ठा पाता है और न अपना परलोक ही सुधार पाता है, क्योंकि उसे हर बात में सन्देह बना रहता है। वह संशय के कारण किसी पर विश्वास नहीं कर पाता। सोचता है कि ईश्वर है

भी या नहीं; मरने के बाद भी क्या जीव बचा रहता है अथवा यही एक जीवन सब कुछ है; बन्धन-मोक्ष आदि की बातें वास्तविक हैं अथवा कोरी कल्पना; महात्मा लोग त्याग-वैराग्य की जो सब बातें कहते हैं, उनमें कोई तथ्य है भी या सब कुछ अर्थहीन है ?

संशयों का चित्रण करने के लिए प्रवचन करनेवाले लोग एक क़िस्सा कहा करते हैं। एक व्यक्ति ने अपने नौकर से कहा--देखो, घर में अमुक बीमार है, जाओ, जल्दी से अमुक वैद्यराज को बुला लाओ। यह सुनकर नौकर के मन में तरह-तरह के सन्देह उठने लगे--'अच्छा, मैं गया और वैद्यराज नहीं मिले तो ? तब तो जाना ही व्यर्थ हो गया।' फिर सोचा--'अच्छा, वैद्यराज मिल भी गये, पर दूसरे कामों में लगे रहने के कारण आना स्वीकार नहीं किया तो? तब भी जाना व्यर्थ हो जायगा।' फिर तीसरा विचार उठा--'अच्छा, अगर वे आ भी गये, पर उनकी दवा से कोई लाभ न हुआ तो? तब भी आना-जाना व्यर्थ ही रहेगा।' नौकर ऐसे ही सन्देहों में डूबता-उतराता खड़ा रहा। गृहस्वामी ने जब उसकी बातें सुनीं, तो उसे तत्काल नौकरी से निकाल दिया। संशयी व्यक्ति की ऐसी ही दुर्दशा होती है। घर के लोग भी उससे अप्रसन्न रहते हैं, समाज में उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, क्योंकि वह किसी पर विश्वास नहीं कर पाता। इसलिए संसार में उसके लिए 'सुख' नाम की कोई वस्तु नहीं रहती। और चूँकि परलोक के सम्बन्ध में उसकी कोई आस्था नहीं है, इसलिए उसने अपना परलोक भी बिगाड़ ही लिया है।

यदि संशयी व्यक्ति अज्ञ है पर उसमें श्रद्धा है, तो

श्रद्धा के बल पर, आचार्य और शास्त्रों की बातों में विश्वास करते हुए अपने संशयों को दूर कर ले सकता है। यदि वह ज्ञानी है पर श्रद्धाविहीन है, तो उसका ज्ञान उसके लिए डुबानेवाला ही सिद्ध होगा, तारनेवाला नहीं। संस्कृत में एक सुभाषित है--

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति।।

--अर्थात् जो अज्ञानी है, कुछ भी नहीं जानता, उसे सिखाया जा सकता है। जो विशेषज्ञ है, विशेष रूप से जानता है, उसे संकेत मात्र से कोई भी बात सिखलायी जा सकती है, पर जो थोड़ा सा ज्ञान पाकर दुर्विदग्ध यानी अभिमानी हो गया है, उसे साक्षात् ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकते। तो, जिस संशयी में श्रद्धा है पर ज्ञान नहीं है, वह प्रथम कोटि का है; जिसमें श्रद्धा और ज्ञान दोनों हैं, वह दूसरी कोटि का है; पर जिसमें श्रद्धा नहीं है पर ज्ञान है, वह तीसरी कोटि का है और उसके संशय को ब्रह्मा भी दूर नहीं कर सकते।

इस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति में उपायभूत रूप से श्रद्धा की स्थापना करते हुए ४१ वें श्लोक में कर्मयोगी की प्रशंसा करते हैं। वैसे तो कर्म सामान्यतः बन्धनकारक होते हैं, पर यहाँ बताया गया कि जो 'योगसंन्यस्तकर्माणम्', 'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' और 'आत्मवन्तम्' हैं, उन्हें कर्म नहीं बाँधते। कई व्याख्याकारों ने इन तीनों विशेषणों को ज्ञानमार्गपरक माना है और 'योग' से ज्ञानयोग का अर्थ लिया है, इसलिए 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' से वे कर्मों का स्वरूप से भी त्याग मानते हैं। पर यदि ऐसी बात होती, तो 'न कर्माणि निबध्नन्ति' कहने की आवश्यकता

न होती, क्योंकि जो स्वरूप से कर्म का त्याग करेगा, उसके लिए 'कर्म नहीं बाँधते' कहना नितान्त अर्थहीन है। जो कर्म करेगा ही नहीं, उसे कर्म भला कैसे बाँधेंगे? अतः जब यह कहा जा रहा है कि 'कर्म नहीं बाँधते', तो इसका आशय स्पष्ट है कि योगी कर्म करता है, फिर भी उनके बन्धन से अछूता रहता है। और यह बात कर्मयोगी पर ही लागू हो सकती है। अतएव ४१वें श्लोक में जो 'योग' शब्द आया है, उससे हमें 'कर्मयोग' ही समझना होगा।

इस प्रकार 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' वह है, जिसने समत्वबुद्धिरूप कर्मयोग के द्वारा अपने समस्त कर्मों को भगवदर्पित कर दिया है। वह कर्म का कर्तापन और कर्म से उपजनेवाले फल का भोक्तापन ईश्वर को समर्पित करते हुए अपने को प्रभु के हाथों मात्र यन्त्रस्वरूप मानता है। 'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' वह है, जिसने विवेक-विचार के द्वारा अपने संशयों का नाश कर लिया है। यहाँ पर 'ज्ञान' शब्द को हमें साधन-ज्ञान के अर्थ में लेना होगा, सिद्ध-ज्ञान या तत्त्वज्ञान के अर्थ में नहीं। इस पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। सिद्ध-ज्ञान हमें तत्काल परमात्मा की प्राप्ति करा देता है, किन्तु यहाँ पर प्रसंग वह नहीं है, क्योंकि अर्जुन को भगवान् कृष्ण योग में अर्थात् कर्मयोग में स्थित होने के लिए कहते हैं। यह व्यक्ति साधन-ज्ञान के द्वारा अध्यात्म सम्बन्धी अपने समस्त सन्देहों को दूर कर लेता है। 'आत्मवन्तम्' वह है, जो आत्मवशी है, जिसके मन और इन्द्रियाँ अपने काबू में हैं, क्योंकि 'आत्मा' शब्द इन्द्रियों और अन्तःकरण के लिए भी प्रयुक्त होता है। भगवत्पूज्यपाद

भाष्यकार 'आत्मवन्तम्' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं 'अप्रमत्तम्', अर्थात् अप्रमादी। इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में बताया गया कि अन्तःकरण को अपने वश में रखनेवाला, आत्मबल से युक्त, विचार द्वारा अपने संशयों को छिन्न कर लेनेवाला तथा अपने कर्मों को कर्मयोग की विधि से ईश्वर में अर्पित करनेवाला पुरुष कर्म करते हुए भी उसके बन्धन से अछूता बना रहता है।

यह सब बताकर ४२वें श्लोक में अध्याय का उपसंहार करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग में स्थित होकर युद्ध करने का आदेश देते हैं। 'तस्मात्' शब्द हेतुवाचक है। पूर्व श्लोक में कर्मयोग के द्वारा कर्मबन्धन से मुक्ति की बात कही गयी है। 'तस्मात्' कहकर भगवान् कृष्ण अर्जुन का ध्यान उधर आकर्षित करते हैं, जिससे वह भी कर्मयोग की ओर खिंचे। संशय को 'अज्ञानसम्भूत' कहकर यह सूचित करते हैं कि संशय अज्ञान-अविवेक से पैदा होता है, इसलिए ज्ञान-विवेक से दूर हो सकता है। उसे 'हृत्स्थ' कहकर यह बतलाते हैं कि संशय अन्तःकरण की वृत्ति है, अतएव जो अन्तःकरण को अपने वश में कर लेता है, उसके लिए संशय का नाश करना सहज हो जाता है।

फिर संशय को ज्ञानरूप तलवार द्वारा छेदने के लिए कहा है। यहाँ पर भी 'ज्ञान' शब्द का तात्पर्य साधन-ज्ञान ही लेना होगा। अर्थात् विवेक-विचार की तलवार लेकर संशय का छेदन कर लेना चाहिए। ३७वें श्लोक में ज्ञान को अग्निरूप बताया है, जो समस्त कर्मों को भस्म कर देता है। यहाँ पर उसे खड्गरूप बताया जा रहा है, जिसके द्वारा संशय का छेदन करना है। व्याख्याकार

इसकी संगति यों कहकर लगाते हैं कि कर्मजनित संस्कार तो आत्मा पर आगन्तुक हैं, अतः उनको जलाने से आत्मा की कोई क्षति नहीं होगी। फिर कर्मजनित संस्कारों को पूरी तरह से नष्ट करने के लिए उनका जलाना ही उचित है। किन्तु संशय अन्तःकरण की वृत्ति है, उसका एक अंश है, इसलिए संशय को यदि जलाने की बात कही जाय, तो उससे सारे अन्तःकरण का ही जलाना होगा। इसी कारण संशय के सन्दर्भ में काटने की बात कही जा रही है, अन्तःकरण के संशयवृत्ति-वाले अंश को काटकर निकाल देना ही उचित होगा, जैसे हम व्रण को काटकर अलग कर देते हैं। और काटना तो शस्त्र से ही हो सकता है। इसलिए यहाँ पर ज्ञान को तलवाररूप बताया है।

प्रस्तुत श्लोक में 'एनं संशयम्' के साथ भगवान् 'आत्मनः' शब्द जोड़ दे रहे हैं। 'आत्मनः' का तात्पर्य होता है 'अपना'। वे अर्जुन से कहते हैं कि तू 'अपने' इस संशय को काट डाल। इसका कारण यह है कि अर्जुन संशय का शिकार हुआ था। गीता के दूसरे अध्याय के छठे और सातवें श्लोकों में हम अर्जुन के संशयग्रस्त होने का संकेत पाते हैं। फिर अन्तिम अध्याय के ७३ वें श्लोक में हम पढ़ते हैं—गीता का उपदेश सुन चुकने के बाद अर्जुन कह रहा है कि मैं 'गतसन्देह' हो गया हूँ। अतः अर्जुन का संशय में पड़ना सिद्ध है। इसीलिए भगवान् उससे कहते हैं—तू अपने इस संशय को काट डाल।

संशय को काटकर अर्जुन को योग में स्थित होने का आदेश देते हैं। हम कह चुके हैं कि 'योग' का

तात्पर्य यहाँ पर 'समत्वरूप कर्मयोग' से है। भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, तू कर्मयोग में स्थित होकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा। अर्जुन के लिए युद्ध कर्तव्य-कर्म था, अतः भगवान् उसे अपने कर्तव्य के पालन में लग जाने के लिए कहते हैं। हम पूर्व में कह चुके हैं कि गीता की टेक है—'युध्यस्व'। तरह तरह से उपदेश देने के बाद अन्त में हर बार भगवान् का अर्जुन के लिए आदेश होता है—'युध्यस्व' अर्थात् 'तू युद्ध कर'। यह उपदेश अर्जुन के मिस हम सबको दिया गया है। हम भी संशयग्रस्त जीव हैं, कर्तव्य के पालन में प्रमाद कर बैठते हैं। आज देश की अवस्था कैसी विकट है! हमारे धर्म, हमारी संस्कृति पर कैसा खतरा छाया हुआ है। पर हमें इसकी कोई चिन्ता नहीं है। आज कितने दुर्योधन और दुःशासन भारत-द्रौपदी के चीर को खींचने में लगे हुए हैं। पर हम हैं, जो भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य के समान धर्म के विषय में संशयचित्त हो चुप्पी मारे बैठे हैं। हमारे लिए भी आज समय की पुकार है—'भारत उत्तिष्ठ'—'ऐ भरतवंशी, उठो!' जब भी हम दुर्बलचित्त हो अपने कर्तव्य की अवहेलना करेंगे, भगवान् कृष्ण की यह उद्बोधन-वाणी हमें सचेत करेगी तथा अपनी मातृभूमि, अपने धर्म एवं अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए हमें प्रेरणा और बल देगी।

इस प्रकार गीता का यह चौथा अध्याय समाप्त होता है। इसे 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' के नाम से पुकारा गया है, जैसा कि हमने प्रारम्भ में कहा था। यहाँ पर कर्मों के स्वरूपतः त्याग की बात नहीं कही गयी है, अपितु ज्ञानपूर्वक उनके फलों को श्रीभगवान् के चरणों में समर्पित करते हुए उन्हें

करने की शिक्षा दी गयी है। इसी को गीता ने 'योग' कह-कर पुकारा है। अज्ञान इस योग को सिद्ध नहीं होने देता, इसलिए उसे दूर करने की बात बारम्बार कही गयी है। अज्ञान ज्ञान के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। अतएव ज्ञानप्राप्ति का उपाय अध्याय के अन्तिम भाग में प्रदर्शित हुआ है। ज्ञान मनुष्य को निठल्ला नहीं बनाता बल्कि उसकी क्रियाशक्ति को दिशा प्रदान करता है।

○

# जीवन का ध्रुवतारा: श्रीरामकृष्णदेव का महावाक्य

*गिरीश चन्द्र घोष*

(लेखक श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। वे आधुनिक रंगमंच के जनक कहे जाते हैं। उनका मूल बँगला लेख 'ध्रुवतारा' शीर्षक से 'उद्‌बोधन' मासिक में प्रकाशित हुआ था। अनुवादक हैं स्वामी वागीश्वरानन्द, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, नागपुर में कार्यरत हैं। ——स०)

ईश्वर के विषय में जितना मतभेद है, उतना शायद किसी विषय में नहीं होगा। ईश्वर हैं या नहीं, वे साकार हैं या निराकार, कौनसा साकार रूप उनका यथार्थ स्वरूप है—अज्ञान के कारण इस पर सदा से वाद-विवाद चलता आ रहा है। मैक्स मूलर ने कहा है कि प्रमुखतया आठ प्रकार के धर्म प्रचलित हैं। धर्म इससे अधिक हों या न हों, परन्तु प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के बीच अनेक प्रकार के सम्प्रदाय दिखाई देते हैं, और फिर इन सब सम्प्रदायों में इतनी भिन्नता है कि लगता है वे मानो परस्पर विपरीत धर्म के हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए नरक की व्यवस्था बतलाता है। हिन्दू धर्म में भी ऐसा ही विरोध है। फिर एक ही सम्प्रदाय के अनुयायियों में भी आपस में उपासना की पद्धति को लेकर विरोध दिखाई देता है। जिन्होंने श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में कुछ सुना है, उन्हें यह अवश्य मालूम होगा कि किस प्रकार उन्होंने इन सारे विरोधों की मीमांसा की है। इस समय वह हमारी चर्चा का विषय नहीं। श्रीरामकृष्णदेव ने सब प्रकार की उपासनाओं के बारे में कहा

है। उनके मतानुसार, मनुष्य अपनी आध्यात्मिक अवस्था के अनुसार उपासना किया करता है तथा उसके लिए वही उपासना प्रशस्त है। मनुष्य की आध्यात्मिक अवस्था के सम्बन्ध में वे जो कहते थे तथा उसे हमने जिस प्रकार से समझा है, वही प्रस्तुत लेख में समझाने का प्रयत्न करेंगे।

ईश्वर-लाभ के उपायों के विषय में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न मत व्यक्त करते हैं। कोई कहता है—क्या ईश्वर को सहज ही पाया जा सकता है? किसी बड़े आदमी से मिलना हो तो कितनी मेहनत और कितने लोगों की कितने प्रकार से खुशामद करनी पड़ती है। इतनी मेहनत और खुशामद करने पर भी उस बड़े आदमी से भेंट होगी या नहीं—इसमें सन्देह बना रहता है। परन्तु यह बात निश्चित है कि इस प्रकार कष्ट किये बिना भेंट नहीं हो पाती। कोई सोचता है—ईश्वर निर्गुण है। हजार उपासना करो, उससे कुछ नहीं होने का। स्वयं को निर्गुण अवस्था की ओर ले जाने का प्रयत्न करो। बहुत साधना करने पर तब कहीं वह निर्गुण अवस्था प्राप्त होती है। कोई कहता है—ईश्वर-उपासना की अनेक पद्धतियाँ हैं। किसी एक पद्धति को ले लो और उसके अनुसार उपासना करो—पुष्प-चन्दन, नैवेद्य आदि से अर्चना करो, मंत्रों का शुद्ध उच्चारण करो। यदि इसमें कोई दोष न हो तो इस प्रकार करते-करते ईश्वर की कृपादृष्टि पड़ सकती है। कोई कहता है—इस प्रकार बाह्य पूजा से क्या ईश्वर तृप्त होते हैं? यह सब बाह्य पूजा तो निम्न कोटि के अधिकारियों के लिए है; तुम तो ईश्वर का नाम लो,

उनका ध्यान करो, कीर्तन करो—धीरे धीरे तुम्हारी उन्नति होगी। कोई कहता है—अत्यन्त शुद्धाचारपूर्वक रहना चाहिए। प्रतिदिन स्नान करो, शुद्ध होकर शुचितापूर्वक सायं-प्रातः सन्ध्या-वन्दन करो, हविष्यान्न-भोजन करो। पहले देह की शुद्धि हो जाय फिर उपासना का विचार करना। कोई कहता है—प्राणायाम करते हुए पहले मन को स्थिर करो, नेति-धौति द्वारा देह-शुद्धि करो, फिर उपासना की बात करना। कोई उसकी बात का विरोध करते हुए कहता है—संसार में रहकर विभिन्न प्रकार के सांसारिक कार्य करते हुए इन सारी क्रियाओं को करना कैसे सम्भव है ? उत्तर में योगमार्गी कहता है—'सच है, संसार में रहकर यह नहीं होता, अतः तुम संन्यास-आश्रम ग्रहण करो।' इसका प्रत्युत्तर देते हुए प्रतिवादी कहता है—'क्यों ? गार्हस्थ्य धर्म क्या धर्म नहीं है ? गार्हस्थ्य धर्म से क्या नहीं होता' ? इस वाद-विवाद में जो 'होना' शब्द है, उसका यथार्थ तात्पर्य इनमें से कोई नहीं जानता। 'निरन्तर ईश्वर में मनोनिवेश होना' यही यदि 'होने' का तात्पर्य हो तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि संसार में इस विषय में पग-पग पर विघ्न हैं।

अस्तु ! यह तो केवल वाद-विवाद है। ईश्वर के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है—यह निश्चित न कर पाने के कारण ही ये वाद-विवाद आ खड़े होते हैं। ईश्वर बहुत दूर हैं—यही धारणा इन वाद-विवादों की जड़ में है। परन्तु कोई भाग्यवान् व्यक्ति गुरुकृपा से यह समझ लेता है कि मंगलमय ईश्वर दूर नहीं हैं, समझ लेता है कि वे मेरे अन्तर के अन्तस्तल में हैं; बचपन की

असहाय अवस्था में जो मातृस्नेह पाया वह साकार मातृ-मूर्ति के माध्यम से मेरे ऊपर बरसनेवाला ईश्वर का ही स्नेह था, मैं उन्हीं की कृपा से चल-फिर रहा हूँ, बातचीत कर रहा हूँ; उन्हीं की कृपा में सदा डूबा हूँ; वे मुझे गोद में उठाना चाहते हैं, पर मैं ही दूर भागा जाता हूँ; अपनी क्षुद्र बुद्धि द्वारा मैं ठहरा नहीं पाता कि मेरा मंगल किसमें है; किन्तु वे मेरा सतत मंगल किये जा रहे हैं। जिसने यह समझ लिया, उस भाग्यवान् व्यक्ति की पूजा-पद्धति स्वतंत्र होती है। जब वह फूल-चन्दन लेकर पूजा करने बैठता है, तो बाह्य विधि की ओर उसकी दृष्टि नहीं रहती। ये फूल बड़े सुन्दर हैं, इन्हें माता के चरणकमलों में क्यों न चढ़ाऊँ--इस भावना से वह पूजा करने बैठता है। सुन्दर मीठे फल, स्वादिष्ट पदार्थ जो उसे स्वयं को प्रिय हैं, वह अपनी माता को चढ़ाता है। उसके मन में यह निश्चित धारणा होती है कि शुद्ध मंत्रों का उच्चारण हो या न हो, माता ने मेरे द्वारा निवेदित पत्र-पुष्प अवश्य स्वीकार कर लिया है। वह माता के गुण इसलिए गाता है कि उसके लिए उसके प्राण स्पन्दित होने लगते हैं, न करने से उसे मन में बड़ी अशान्ति प्रतीत होती है। उसके लिए अपराध या पाप नाम की कोई चीज नहीं; वह तो अपने को अपार स्नेहमयी माता की सन्तान मानता है। वह जानता है कि वह स्वयं को जितना चाहता है, उससे सैकड़ों-गुना अधिक माता उसे चाहती है। ऐसी माता का दर्शन मैं क्यों नहीं पा रहा हूँ—इस विचार से वह रोते हुए अधीर हो जाता है।

ऐसे भाग्यवान् व्यक्ति की अवस्था अत्यन्त स्पृहणीय है। गुरु की कृपा से इस स्पृहणीय अवस्था की ओर जिनकी दृष्टि जाती है, इस स्पृहणीय अवस्था को जो चाहता है, उसके लिए वह कठोर मार्ग नहीं है। उस अवस्था को पाने का एकमात्र उपाय है---ईश्वर के निकट प्रार्थना। सम्भवतः वह व्यक्ति सोचे कि मेरा मन तो अति दुर्बल है, मैं इस प्रकार प्रार्थना भी नहीं कर सकता, तो ऐसे दुर्बलों के लिए कृपामय श्रीरामकृष्णदेव ने कितना सरल उपाय बतलाया है। वे कहते हैं---अपने मन की इस दुर्बलता को निष्कपट हृदय से ईश्वर को जताओ, जितना हो सके जताओ। वे बिन्दु को सिन्धु की तरह देखते हैं। तुम्हारी इस प्रार्थना को वे अवश्य पूर्ण करेंगे। तुम दुर्बल हो—यह वे जानते हैं। तुम्हारे एक बार शरणागत होने पर वे तुम्हें नहीं तजेंगे। वे शरणागत का त्याग कभी नहीं करते---वे शरणागत दीनजनों के परित्राण-परायण हैं। यही श्रीरामकृष्ण का महावाक्य है कि कोई इतना दीन नहीं है, संसार में कोई इतनी हीन दशा को प्राप्त नहीं हुआ है कि रोज दिन ढलने पर एक बार इस प्रकार अपने मन की अवस्था को ईश्वर को न जता सके।

सम्भवतः इस पर शास्त्राभिमानी व्यक्ति कहेंगे---'एक बार प्रार्थना करने से ही यदि हो जाता, तो ऐसा दीख क्यों नहीं पड़ता है? तो क्या कोई प्रार्थना ही नहीं करता?' कोई प्रार्थना करता है या नहीं---हम इसका निर्णय करने नहीं बैठे हैं। हमारा कहना यह है कि जिसने रोग-शोक-मृत्यु से ग्रस्त इस संसार में अपनी असहाय अवस्था, अपनी हीनता, अपनी दुर्बलता

का थोड़ा भी अनुभव किया है, वह निस्सन्देह इस महावाक्य को अपने जीवन का ध्रुवतारा बनाएगा तथा उस ध्रुवतारे की ओर ध्यान रखते हुए संसार-समुद्र में निर्भय हो अपनी जीवननैया को खे सकेगा। यदि सन्देह का तूफान उठकर किसी के जीवन में अँधेरा फैला दे और वह दिशा न ठहरा पाए तो उस ध्रुवतारा की ओर दृष्टि डालते ही उसे दिशा दिखाई देगी। वह देखेगा कि उस उज्ज्वल तारे के अदृश्य प्रभाव से भयंकर तरंगों के बीच उसकी छोटीसी नाव अटूट और अक्षुण्ण बनी हुई है। देखते ही देखते तूफान शान्त हो जाएगा और वह फिर से निर्विघ्न रूप से आगे बढ़ने लगेगा।

अतएव यदि कोई हमारे-जैसा हीन और दुर्बलचित्त व्यक्ति हो, तो उसके चरणों में मेरा विनयपूर्वक नम्र निवेदन है कि वह एक बार इस महावाक्य को अपने हृदय में स्थान दे। फिर वह दिनोंदिन इस महावाक्य का अधिकाधिक प्रभाव अनुभव कर सकेगा। उसके निराश हृदय में आशा का संचार होगा और वह आशा इतनी बलवान् होगी कि किसी भी प्रकार की संसार की ताड़ना से नहीं डिगेगी। मैं जो कह रहा हूँ उसकी उपलब्धि यदि मैंने नहीं की होती, तो उसे इस प्रकार दृढ़ शब्दों में प्रकट करने में मुझे संकोच होता। एक बार उस ध्रुवतारे की ओर जिसकी भी दृष्टि जाएगी, वही समय पाकर इसी प्रकार दृढ़ शब्दों में श्रीरामकृष्णदेव के अमृत वचनों के अतुलनीय प्रभाव को व्यक्त करेगा और हार्दिक उत्साह से 'जय रामकृष्ण' कहते हुए ताली बजाएगा।

○

# सर्वसार्थक वृक्ष

## (लघुकथा)

डॉ. प्रणव कुमार बनर्जी, पेण्ड्रा

पिछले पच्चीस वर्षों से मेरा वनों से सम्बन्ध है।

बचपन में कभी मेरी माँ ने कहा था, "सतयुग में वृक्ष बोलते थे।"

तब से मेरे मन में एक शाश्वत प्रश्न रहा है--इस युग में वृक्ष क्यों नहीं बोलते? और यदि बोलते हैं, तो कोई सुन क्यों नहीं पाता? क्या मैं उनकी बोली नहीं सुन सकता?

अभिव्यक्ति की भाषा समान नहीं होती। कई अभिव्यक्तियाँ अपौरुषेय ज्ञान के स्पन्दनों से मानव-हृदयों तक अपनी बातें पहुँचाती हैं। वृक्षों का भी यही तरीका है। वे आज भी बोलते हैं। पर शब्द की सीमा के उस पार जाकर। वनों के सान्निध्य में मैंने यही अनुभव किया है। वृक्षों ने मुझे बार-बार एक ही बात कही है--और, मैंने बार-बार यह सुनी है--ऐसा कोई वृक्ष नहीं, जो ऋतुओं की ताड़ना में उलझा न हो। पर सर्वसार्थक वृक्ष केवल वही होता है, जो छाया प्रदान करता है या प्रदान करता है तृप्तिकर फल।

○

यह संसार कायरों के लिए नहीं है। पलायन की चेष्टा मत करो। सफलता अथवा असफलता की चिन्ता मत करो। पूर्ण निष्काम संकल्प में अपने को लय कर दो और कर्तव्य करते चलो।

---विवेकानन्द

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म.प्र.)

# विवेकानन्द जयन्ती समारोह--१९८६

## का र्य क्र म

**स्वामी विवेकानन्द का १२४ वाँ जन्मतिथि-महोत्सव**

जन्मतिथि-पूजा (मन्दिर में) शनिवार, १ फरवरी १९८६

विद्यार्थियों के लिए विभिन्न प्रतियोगिताएँ

- गुरुवार, २३ जनवरी सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता**

- शुक्रवार, २४ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

- शनिवार, २५ जनवरी, .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता**

- रविवार, २६ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता**

- सोमवार, २७ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता**

- मंगलवार, २८ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता**

- बुधवार, २९ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता**

० गुरुवार, ३० जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता**

० शुक्रवार, ३१ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

**अन्तःप्राथमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता**

० रविवार, २ फरवरी .. सायंकाल ६ बजे

**विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन**

० ३ फरवरी से ६ फरवरी तक .. सायंकाल ७ बजे

**आध्यात्मिक प्रवचन**

प्रवचनकार : श्री राजेश रामायणी

० ७ फरवरी से १६ फरवरी तक .. सायंकाल ७ बजे

**रामायण प्रवचन**

प्रवचनकार : पण्डित रामकिंकरजी महाराज

○

## श्री माँ सारदा देवी का १३३ वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि-पूजा (मन्दिर में) शुक्रवार, ३ जनवरी १९८६

सार्वजनिक सभा (सत्संग भवन में) ५-१-८६ को सन्ध्या ५ बजे

○

## भगवान् श्रीरामकृष्णदेव का १५१ वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि-पूजा (मन्दिर में) बुधवार, १२ मार्च १९८६

सार्वजनिक सभा (सत्संग भवन में) १६-३-८६ को सन्ध्या ५।। बजे

○

# रामकृष्ण मठ, पूना

## अपील

विश्वविख्यात रामकृष्ण मठ, बेलुड़मठ (हावड़ा) ने जुला १९८४ से अपनी एक मान्य शाखा पूना (महाराष्ट्र) में भी प्रारम्भ की है। यह पूना-केन्द्र उदारचेता दानदाताओं और शुभेच्छुकों के सहयोग से कई प्रकार की नियमित गतिविधियाँ जनता-जनार्दन के लाभार्थ संचालित कर रहा है। इस केन्द्र को सबसे पहले निम्न बातों की आवश्यकता है---

(१) मठ की जमीन के चारों ओर हाता, जिससे उसे अवैध कब्जों से बचाया जा सके तथा मठ-प्रांगण को सुरक्षित और साफ-सुथरा रखा जा सके;

(२) विद्यमान भवनों की मरम्मत और उचित रखरखाव; तथा

(३) कुछ नयी गतिविधियों के लिए नये भवन।

इन कार्यों पर, पहले चरण के रूप में, तीन लाख रुपये की तुरन्त आवश्यकता है। हम उदारमना दानदाताओं से अपेक्षा करते हैं कि वे हमारे लिए अपना सहयोग का हाथ बढ़ाएँगे और हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। यहाँ ज्ञातव्य है कि संस्था को दिये गये दान आयकर अधिनियम की धारा ८०-जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त हैं।

दान 'रामकृष्ण मठ, पूना' के नाम पर चेक या ड्राफ्ट बनाक "अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, १३१/१ए, पर्वती, पूना--४११०३८ (महाराष्ट्र)" के पते पर भेजे जा सकते हैं।

○